ॐ

श्री परमात्मने नमः

आचार्य भगवन् श्री गुणभद्रस्वामी प्रणीत

जिनदत्त चरित्र

—: हिन्दी अनुवाद :—

पण्डित श्रीलाल जैन

(काव्य तीर्थ)

—: सम्पादन :—

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियां, भीलवाड़ा (राज०)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

—: प्रकाशन :—

शाश्वत् पर्व दशलक्षण (माघ माह)

दिनांक, 02 से 12 फरवरी 2025

के अवसर पर

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046

www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :

विवेक कम्प्यूटर

अलीगढ़।

प्रकाशकीय निवेदन

श्री गुणभद्रस्वामी प्रणीत जिनदत्त चरित्र का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में चारों अनुयोगों का उपदेश होता है, उसमें प्रथम अनुयोग का नाम प्रथमानुयोग है। द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग और करणानुयोग में जो वर्णन है, उसकी दृष्टान्त द्वारा प्रसिद्धि, प्रथमानुयोग है। प्रथमानुयोग के अभ्यास से तीनों अनुयोगों का समझना सरल बनता है।

प्रथमानुयोग के अभ्यास से—

❖ पुराण-पात्रों के प्रसंग पढ़ने-विचारने से दृढ़ता होती है कि क्रमबद्ध अनुसार - होनहार अनुसार परिणमते हुए परिणमन काल में उसके योग्य पुरुषार्थ होता ही है; क्रमबद्ध अनुसार पुरुषार्थ होता ही है, कर्तृत्वपूर्वक करना नहीं पड़ता परन्तु सहजरूप से उसके योग्य पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता, इसलिए मुझे कर्तृत्वपूर्वक पुरुषार्थ करने का बोझा भी नहीं रहता। मैं तो मात्र ज्ञातारूप से रहता हुआ एक ज्ञायकभाव हूँ।

❖ जीवों के भूतकाल के और भविष्य काल के निश्चित परिणामों का वर्णन जानकर क्रमबद्धपर्याय की यथार्थ श्रद्धा द्वारा अकर्तास्वभाव के सन्मुख हुआ जाता है।

❖ संसारी जीवों के पापमय परिणामों होने पर भी उनकी क्षणिकता समझने से स्वभाव में संसार की गन्ध भी नहीं है, ऐसा महिमावन्त ज्ञायक मैं हूँ - ऐसी दृढ़ता होती है।

❖ एक जीव दूसरे जीव पर क्रोध करे तो उसके संस्कार भव-भव तक रहते हैं, राग करे तो उसके संस्कार भी भव-भव तक नहीं छूटते और कुदेव-गुरु-धर्म के सेवन से नरक-निगोद में चिरकाल भ्रमण करके फिर से मनुष्य होने पर कुधर्म के संस्कार पुनः जागृत हो जाना जानकर, जीव को वीतरागधर्म की आराधना की विशेष जागृति रहती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जिनदत्त कुमार के जीवन का भाववाही निरूपण किया गया है। अनेक प्रकार की विषम परिस्थितियों के मध्य भी उन्होंने धैर्य का

परित्याग न करके वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु एवं निज शुद्धात्मतत्त्व की आराधना में अपने चित्त को लगाया और परिस्थितियों की अनुकूलता के काल में भी रंजायमान न होकर जल से भिन्न कमलवत् रहकर अपनी आत्मसाधना को वृद्धिगत किया। जिनके जीवन से हमें भी आत्महित की प्रेरणा प्राप्त होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का संस्कृत भाषा से हिन्दी अनुवाद स्वर्गीय पण्डित श्रीलाल जैन (काव्यतीर्थ) द्वारा किया गया था। वर्तमान में इस ग्रन्थ की अनुपलब्धता एवं उपयोगिता को दृष्टिगोचर रखते हुए प्रस्तुत सम्पादित संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें मात्र प्राचीन हिन्दी भाषा में प्रचलित शब्दों का वर्तमानकालीन भाषा में प्रचलित शब्दों को रखा गया है। आवश्यकतानुसार भाषा को प्रवाहमयी बनाने का प्रयास किया गया है।

सभी जीव इस ग्रन्थ को पढ़कर निज आत्महित साधें, इसी भावना के साथ।

ट्रस्टीगण,
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विले पार्ला, मुम्बई

गुणभद्राचार्य प्रणीत

जिनदत्त चरित्र

(भाषा)

मंगलाचरण और प्रस्तावना

यह संसार नाना दु:खों का स्थान एक कारागार स्वरूप है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र नाम के आठ दुष्टपुरुष इसके अधिकारी हैं और इनका स्वभाव बड़ा ही क्रूर है, इसलिए यों तो ये समस्त ही इस कारागार में रहनेवाले प्राणियों को दु:ख दिया करते और उनसे मनमाना कठिन से कठिन काम लिया करते हैं परन्तु उन सबमें मोहनीय बड़ा ही क्रूर है। यदि उसे दुष्टों का सरपंच कहा जाये तो कोई भी अत्युक्ति न होगी क्योंकि जितने भी दु:ख व सुखाभास सुख इस संसाररूपी कारागार में रहनेवालों को मिलते हैं, वे सब इस ही की सहायता व आज्ञा से इसके साथियों द्वारा किये जाते हैं। वैसे तो इसमें रहनेवाले समस्त प्राणियों को ही इसकी आज्ञा का पालन करना होता है और प्राय: करते ही हैं परन्तु जो कोई भी लाखों और करोड़ों में से एक कदाचित दृढ़ता से, किसी के कहने-सुनने से इसकी आज्ञा का पालन न करे तो उससे यह क्रुद्ध हो जाता है और नाना उपायों से उसे अपने वश में चलाने का प्रयत्न करता है। यद्यपि उसका यह प्रयत्न विफल नहीं जाता तो भी यदि कदाचित् कभी व्यर्थ चला जाता है तो इसे बड़ा ही क्रोध आता है, फिर ऐसा कड़ा प्रतिबन्ध उस

कारागार का कर देता है कि लोगों को आपस में उसके विरुद्ध कहने-सुनने का कभी अवसर ही नहीं प्राप्त होता। परन्तु इतना कड़ा प्रबन्ध रहने पर भी जो लोग इसके विरुद्ध हो जाने से कारागार से निकल चुके हैं और अपने सतत् सुखदायी नगर की ओर प्रस्थान करने की तैयारियाँ कर रहे हैं, वे उस कारागार के कैदियों को उनके अनुभूत दु:ख सुना-सुनाकर चेतावनी देते हैं और अपने सरीखा दृढ़ प्रतिज्ञ बनने के लिये उपदेश देते हैं, जिससे कि बहुत से कैदी तो उनकी उस आपबीती दुखभरी कहानियों को और वहाँ से निकलने के मार्ग को सुनकर उन सरीखे हो जाने के लिये कटिबद्ध हो जाते हैं। बहुत से वहाँ से निकलने के इच्छुक होने पर भी डांट-डपट से जैसे के तैसे ही चुपकी साध रह जाते हैं और बहुत से उस मोहनीय की गाढ़ भक्ति में आकर उनकी कुछ सुनते ही नहीं हैं। इस तरह संसाररूपी कारागार के प्रधान अध्यक्ष मोहनीय के विरुद्ध लड़नेवाले और युद्ध में जय प्राप्त कर उसके अत्याचारों को लोगों में प्रकट करनेवाले लोग समय-समय पर हुआ करते हैं। उनमें से जो इस युग में हुंडावसर्पिणी काल में हुए हैं, वे आदिनाथ आदि चौबीस हैं और जो इन चौबीसों के उपदेश से मोहनीय को परास्त करनेवाले हैं, वे असंख्य और अनन्त हुए हैं। इसलिए जिन्होंने इस संसाररूपी कारागार में सर्वदा व्यथित होते हुए प्राणियों को उसके दु:खों से निवृत्त होने का सीधा सच्चा मार्ग बतलाया और जो स्वयं अनन्त सुख के भाजन बन गये, वे हम लोगों का कल्याण करें। उनसे प्रार्थना है कि हम लोगों को भी दुष्ट मोहनीय से युद्ध कर उसे परास्त करने की शक्ति प्रदान करें।

देवी! सरस्वती! यदि तू न होती तो इस संसाररूपी कारागार में अवरुद्ध हुए दीन-दु:खी प्राणियों का जिनेन्द्र भगवान कैसे उद्धार करते, उन्हें किस तरह सुख का मार्ग बतला मोक्षनगर पहुँचाते और क्यों ही वे हमारे उपकृत उपकारी ही होते। जो कुछ भी उनके प्रति हमारी भक्ति व श्रद्धा है, सब तेरे ही द्वारा करायी गई है। तू ही इसमें प्रधान कारण है। संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञान तेरे ही कारण से होता है। इसलिए हे संसार के प्राणियों की एकमात्र रक्षित्री जगद्धात्री जिनेन्द्र भगवान के वदनरूपी कमल पर अतिशय शोभित होनेवाली दिव्यध्वनिरूपी राजहंसी पूज्य माँ! तेरे लिये हमारा बार-बार नमस्कार है।

मुनियों के शिरताज, अहिंसा और पाँच महाव्रतों के निर्दोष पालक, गुरुदेव! आपके लिये भी हमारा भक्ति भरा नमस्कार है। यदि आप जिनेन्द्र भगवान के उपदेशों से अपनी आत्मा को उन्नतकर मोहनीय के साथ युद्ध न करते और उसकी ही आशा का पालन करते रहते तो ऐसा कभी भी अवसर प्राप्त न होता कि हम भी उस मोहनीय के विरुद्ध कुछ भी आँख उठाकर देख सकते। यह सब आप ही का प्रसाद है कि मोहनीय कर्म द्वारा भेजे मिथ्यात्वरूपी सर्प से डसे गये भी इस संसार के भव्य जीव आपके सद्धधर्मोपदेशरूपी अमृत का पानकर जी रहे हैं - मूर्छित व मृत्यु को न प्राप्त कर अपने अभीष्ट (स्वस्वरूप) की सिद्धि कर रहे हैं, अन्यथा अनन्त सुखस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति इस संसार के जीवों को दुर्लभ ही नहीं, असम्भव भी हो जाती, वे इसे कभी न प्राप्त कर सकते।

कवि लोग प्राय: अपने-अपने रचित ग्रन्थों की आदि में दुर्जनों

की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा किया करते हैं एवं उनसे अपने काव्य के दोषों की मार्जना का विचार भी प्रगट करते हैं। परन्तु उनके उस लम्बे-चौड़े प्रशंसा व निन्दा के प्रस्ताव से सज्जन व दुर्जन कोई भी सहमत नहीं होते। वे लोग जो उनके मन में आती है, अपने स्वभावानुसार दोषाच्छादन व दोषोद्घाटनल गुणप्रकाशन व गुणाच्छादन आदि किये बिना नहीं रहते। इसलिए हम (गुणभद्रस्वामी) अपने इस ग्रन्थ में व्यर्थ ही सज्जनप्रशंसा और दुर्जननिन्दा का लोकानुगत गीत गाकर समय और शक्ति नष्ट नहीं करना चाहते। **हमें केवल इतना ही कहना है कि जिनदत्त सेठ की कथा मनुष्य के जीवन के कर्त्तव्यरूप धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के प्रगट करनेवाली है। जो लोग अपने जीवन को सदाचारी पवित्र परलोक में सुख प्रदान करनेवाला बनाना चाहते हैं, उनके लिये अतुलनीय यह सत्य दृष्टान्त है, इसलिए हमारी इच्छा हुई है कि ऐसे उत्तम पुरुष का जीवन लोगों को बतलाया जाये, अत: उसे हम यहाँ लिखते हैं।**

प्रथम सर्ग

इस मध्य लोक में असंख्यात द्वीप हैं, उन सबके बीचोंबीच पृथ्वी जाति के जम्बू (जामुन) वृक्ष से शोभित यह जम्बूद्वीप नाम का द्वीप है। इसके मध्य में अनेक क्षेत्र हैं। उनमें भरतक्षेत्र का नाम उल्लेख के योग्य है। क्योंकि हमें उसी के एक देशवासी व्यक्ति का जीवन वृत्तान्त यहाँ कहना है।

भरतक्षेत्र के दक्षिण भाग में एक अंग नाम का देश है। यह देश सांसारिक समस्त भोग-उपभोगों की सामग्री के लिये सर्वत्र ख्यात है। इसके अधिवासी लोग कभी किसी प्रकार के भोग्य पदार्थ की लालसा से ग्रस्त नहीं होते। जब जिस प्रकार की आवश्यकता होती है, उसे वहीं से पूरा कर लिया करते हैं। बाग-बगीचों की यहाँ कमी नहीं है। उनमें जा जाकर लोग मनमानी क्रीड़ा किया करते हैं। नदियों का यहाँ बहुत ही जोर शोर है, कमलों के समूह उनमें खिले हुए दिखाई पड़ते हैं, भंवर कुएँ सरीखे गहरे हो-होकर लोगों के मन में डर और कौतूहल पैदा करते हैं। उनका जल ऐसा स्वच्छ और मधुर है कि पीते ही बनता है, उसके पान से कभी भी तृप्ति नहीं होती। वहाँ की स्त्रियाँ बहुत ही सुन्दर हैं। उनके उस सौन्दर्य का वर्णन करना असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। उच्च घरानों की नारियों की तो बात ही क्या है? सामान्य शूद्र ग्वालों की कन्यायें जो धूप की उष्णता में, जाड़े की सरसराहट में सर्वदा कुम्हलाई रहती हैं, उनके अप्रतिमरूप को देखकर ही पथिक लोगों को आश्चर्य सागर में डूब जाना पड़ता है और जो अपना शीघ्रता से मार्ग तय करना

चाहिए था, उसे भूलकर बहुत विलम्ब से तय कर पाते हैं। वहाँ खाद्य पदार्थों का बहुत ही आधिक्य है। आप जिधर भी चले जाइये, उधर ही गाँवों में अनाज के ढ़ेर के ढ़ेर पावेंगे। कहीं आप जौ को देखेंगे तो कहीं गेहूँ को, और कहीं कोई अन्य ही अनाज दृष्टिगोचर होगा। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। केवल इसी से उसकी धान्य सम्पत्ति का ज्ञान हो सकता है कि सर्वदा खलिहानों में धान्यों की रखवाली के लिये समीप बैठे हुए किसानों को देखने से गाँवों की सीमा का यथेष्ट ज्ञान नहीं हो पाता। सर्वत्र मनुष्यों के झुण्ड के झुण्ड दीख पड़ने से 'यह गाँव निकल गया' 'अब यह गाँव आया है' अथवा 'ये इस गाँव के मनुष्य हैं' और 'ये इस गाँव के हैं' यह जरा भी नहीं मालूम पड़ता। उस जगह के वृक्षों की शोभा ही अपूर्व है। उसकी वह ऊँचाई और वह छाया की बहुलता चित्त पर एक-दूसरे प्रकार का ही भाव अंकित कर देती है और उनकी सघन वीथियों में कोमल-कोमल मधुरवाणी बोलनेवाले पक्षी बड़े ही सुहावने मालूम पड़ते हैं। लोक व्यवहार के लिये पृथ्वी का दूसरा नाम वसुमती (धनवाली) भी है। परन्तु जब हम वहाँ की सोने-चाँदी पैदा करनेवाली खानियों की ओर दृष्टि डालते हैं तो उस जगह के लिये वह शब्द केवल व्यवहार के लिये ही नहीं, किन्तु वास्तविक अर्थ को बतलाने के लिये भी उपयुक्त मालूम होता है-वहाँ की पृथ्वी केवल नाम से नहीं, बल्कि अर्थ से भी वसुमती (धनसमृद्ध) है।

जिस समय का हम यह वर्णन कर रहे हैं, उस समय जैनधर्म का यहाँ बड़ा ही प्रभाव था। जैनधर्म राष्ट्रधर्म कहकर उस समय परिचित होता था। लोग अपने दुष्कृत्यों के फलस्वरूप दु:खों से जब घबड़ा जाते थे और शान्ति सुख की तलाश करते थे तो इसी धर्म में आकर

अपनी रक्षा करते थे। वहाँ जगह-जगह जिनेन्द्र भगवान के पंचकल्याणकों के बहुमूल्य मन्दिर थे और उनमें हर समय नाना प्रकार के धार्मिक उत्सव हुआ करते थे, जिन्हें देखने के लिए देव और दूर-दूर के लोग आया करते थे एवं अपने पापों का नाशकर पुण्य लाभ लिया करते थे। इस देश में प्राय: सर्वदा ही पुण्यात्मा और धर्मात्मा जीव उत्पन्न हुआ करते थे और यहाँ तक तीन जगत् को जीतनेवाले काम के भी विजयी जिनेन्द्र भगवानों के गर्भ, जन्म, तप आदि पाँचों कल्याणक भी यहाँ हुए थे।

इस प्रकार अपने अधिवासियों को इहलोक और परलोक में सुख प्रदान करनेवाली सामग्री के धारक इसी अंग (बिहार) देश में बसन्तपुर नाम का एक नगर था और यही उस (अंग) देश की उस समय राजधानी थी। राजधानी होने के कारण इसका ऐश्वर्य और सौन्दर्य उस समय स्वर्ग के ऐश्वर्य और सौन्दर्य से भी चढ़-बढ़कर लोगों को ज्ञात होता था। इसके चारों ओर बहुत ही गहरी एक खाई थी और उसको देखकर लोग कभी-कभी यह अनुमान लगाया करते थे कि इस नगर में रत्न अधिक हैं, इसलिए उनको चुराने के लिये खाई का रूप धारण कर समुद्र पृथ्वी में घुसकर अपनी अभीष्ट सिद्धि करना चाहता है। इस खाई के बाद एक कोटा था और उसके बाद फिर नगर निवासियों के महल मकानात थे। इसलिए उसमें रहनेवालों को किसी प्रकार की कभी हानि नहीं उठानी पड़ती थी। वे दृढ़ रीति से सुरक्षित होते थे। यहाँ धनिकों के महल और अट्टालिकायें बड़ी-बड़ी ऊँची थीं। उनकी ऊँचाई से चन्द्रमण्डल थोड़ी दूर रह जाता था और उसमें वहाँ की रमणीय रमणियों के मनोहर कपोलों की कान्ति को हरण कर अपने कान्तिविहीन कलंक

को मार्जन करने की इच्छावाला यह मालूम होता था। पुरुषों के विषय में वह नगर किसी तरह दोषी नहीं कहा जा सकता। वहाँ के लोग एक-दूसरे की सम्पत्ति को देखकर प्रसन्न होते थे। व्यापार आदि कार्यों में सत्य वचनों से ही काम किया करते थे और पात्र में अपनी विभूति का दान देकर सन्तोष के साथ इन्द्रियभोग भोगते थे। जिस प्रकार अन्यत्र इस देश में जगह-जगह धर्म के साधनभूत जिनमन्दिर प्रतिष्ठित थे। उसी प्रकार इस नगर में भी नाना चित्र-विचित्र कूटों शिखरों से अलंकृत विस्तीर्ण और उच्च-उच्च अनेक जिनमन्दिर विराजमान थे।

इस नगर का रक्षक क्षत्रियवंशी राजा चन्द्रशेखर था। यह बड़ा ही सुन्दर और सुडीलडौल का था। इसके प्रताप की महिमा दशों दिशाओं में उस समय विस्तृत हो गई थी। इसलिए इसके भय से लोग दूर गुहा झाड़ी और जंगलों में जा छिपते थे। यह जिस प्रकार अपने इन्द्रियसुखों को भोगता था, उसी प्रकार बल्कि उससे भी कहीं अधिक धर्म के पालन में चित्त लगाता था। इसके मन में, सर्वदा धर्म से ही सुख की प्राप्ति होती है - इस बात का ध्यान बना रहता था और तदनुसार पाप मार्ग से भयभीत हो धार्मिक क्रियाओं को निरतिचार पालने की पूर्ण कोशिश भी किया करता था। यह अपनी राजकीय विद्याओं का भी पूर्ण जानकार था। इसकी बुद्धि जिस प्रकार सूर्य अपने उदय से दिशाओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार समस्त विद्याओं को प्रकाशित करती थी। इसमें नम्रता भी बहुत थी। इसे अपने चरणों में नमते हुए सामन्तों को देखकर उतनी प्रसन्नता न होती थी, जितनी की जगत् के एक हितु सन्त साधुओं के चरणों में नमते हुए अपने को देखकर आनन्द होता था।

इस प्रकार राजाओं के योग्य नाना गुणों से भूषित राजा चन्द्रशेखर के मदनसुन्दरी नाम की पटरानी थी। यह समस्त संसार की स्त्रियों में अनुपम सुन्दरी और बुद्धिमती थी। इसके उपमातीत सौन्दर्य को देखकर कल्पनाचतुर कविगण तो यहाँ तक अनुमान लगाते थे कि देवांगनायें जो निमेषरहित नेत्रवाली हैं, वे इसी के रूप को देखकर आश्चर्य से आँखें फाड़े ही रह जाने के कारण है। अपने पति के समान यह रानी भी अप्रतिहतरूप से धर्म का पालन और इन्द्रिय सुख का भोग करती थी। इसके हृदय में (वक्षस्थल में) जिस प्रकार निर्मल बहुमूल्य मोतियों का गुंफित हार शोभित होता था और उसका पहिनना वह उचित समझती थी, उसी प्रकार इसके चित्त में मुक्त-स्वरूप में स्थित आत्माओं के ध्यान में निर्मल गुणों से विशिष्ट सम्यग्दर्शन भी शोभित होता था और उसका धारण करना भी वह उचित ही समझती थी।

इस प्रकार सद्धर्म के सेवक इन राजा-रानियों की राजधानी में जीवदेव नाम का एक सेठ रहता था। वह बड़ा ही जिनधर्म का भक्त और उसका गाढ़ श्रद्धानी था। उसके असंख्य धनराशि थी। उस समय उसके धन में बराबरी करनेवाले दुनिया में बहुत ही कम लोग थे। धनाढ्यता के साथ-साथ इसमें एक और गुण यह था कि यह कंजूस नहीं था। घर पर आये हुए श्रेष्ठ अतिथियों की तो अलग बात है, इसके द्वार पर जो लोग दीन दुखिया दरिद्री आया करते थे, उनके लिये भी इसका द्वार सर्वथा खुला रहता था। यह लोगों को मुँहमांगा दान दिया करता था। इसलिए इसकी बराबरी इस गुण में कोई भी उस नगर का धनाढ्य नहीं कर सकता था। इसने जो कुछ भी धन उपार्जन किया था, वह न्यायपूर्वक सत्य वचन बोलकर

किया था। इसको मिथ्या बातों से बहुत ही चिढ़ थी। जो लोग मिथ्या वचन बोल बोलकर अनेक भावतावों से लोगों को फुसलाकर व्यापार करते थे, उनको यह बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा करता था। सदाचार में इसकी सानी का कोई न था। अहिंसा आदि पाँचों अणुव्रतों का निरतिचार पालक होने से सज्जन लोग इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। पूर्व पुण्य से उपार्जित अपने द्रव्य को उसने अनेक जगह बहुमूल्य जिनमन्दिरों के निर्माणों से सफल किया था। और वे उसके शरीरधारी यश सरीखे मालूम पड़ते थे। इसके माता-पिता दोनों पक्षों से शुद्ध वैवाहिक विधि से परिणीत जीवंजसा नाम की पत्नी थी। यह बड़ी ही साध्वी और पतिव्रता स्त्री थी। ऐसी गुण की खान स्त्री सभी के भाग्य में नहीं होती। इसने अपने अनेक सुगृहिणियों के उचित गुणों से सेठ जीवदेव के मन को मोहित कर लिया था। इसके विनयशील और गृहस्थी के उचित कार्यों में निपुण होने से सेठ जीवदेव सब प्रकार से सुखी थे। जिस प्रकार ये निर्विघ्न रीति से श्रेष्ठ धर्म का पालन करते थे, उसी प्रकार से धन का भी बहुत ही उपार्जन किया करते थे। बहुत कहने से क्या? इस समय इन दोनों दम्पतियों को सब प्रकार का सांसारिक सुख उपस्थित था। किसी की ऐहिक पदार्थ के लिये उन्हें कभी याचना नहीं करनी पड़ती थी।

एक दिन की बात है कि सेठानी जीवंजसा स्नान आदि से शुद्ध होकर नवीन वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो अपने दास-दासियों के साथ बहुत सवेरे ही जिन मन्दिर में भगवान जिनेन्द्र के दर्शन के लिये गई। वहाँ पहुँचकर पहिले तो उसने जिनदेव की तीन प्रदक्षिणा दी और उसके बाद स्तुति पूर्वक भगवान का पूजन किया। जब नित्य

नैमित्तिक समस्त पूजनों से वह निवृत्त हो गई तो मुनियों की सभा में गई और धर्म सुनने की इच्छा से वहाँ नमस्कारपूर्वक बैठ गई। जिस समय यह जीवंजसा मुनियों की सभा में गई थी, तो उस समय श्रेष्ठ धर्म के उपदेशक, भूत-भविष्य-वर्तमान काल के समस्त रूपी पदार्थों को जाननेवाले अवधिज्ञान से भूषित मुनिवर गुणचन्द्र पुरातन इतिहास की एक घटना भव्य श्रावकों को सुना रहे थे और उसमें प्रसंगवश पुत्रजन्म से स्त्रियों की प्रशंसा व पुत्र के न होने से उनकी निन्दा का प्रभावशाली वर्णन कर रहे थे। मुनिराज के इस ओजस्वी व्याख्यान को श्रवण कर जीवंजसा के हृदय में गहरी चोट लगी। उसके अभी तक कोई पुत्र नहीं हुआ था, इसलिए वह मुनिवर का व्याख्यान और उसमें बतलाई गई पुत्र की आवश्यकता उसके हृदय में लोह की कील के समान पीड़ा देने लगी। वह बार-बार अपने इस अशुभ कर्म को धिक्कारने लगी और इस तरह सोचने लगी-

''हाय! मुझ अभागिनी के समान दुखिया और धिक्कार पाने के योग्य इस संसार में कोई नहीं है। मैं बड़ी ही मन्दभागिनी और पापिनी हूँ। न जाने पूर्वभव में मैंने ऐसा कौन-सा पाप किया था, जिसके कारण मुझे यह दु:ख उठाना पड़ा है। मेरा यह मन के हरण करनेवाला यौवन किसी काम का नहीं है। ऐसे केवल नामधारी अशोक वृक्ष से मतलब ही क्या निकलता है, जिस पर पुष्प तो लगते हैं परन्तु फल का नाम नहीं आता। उससे तो यही अच्छा है कि उसका इस दुनिया में नाम और निशान तक न हो। हाय! समुद्र के जल के समान खारी मेरे इस लावण्य गुण को भी शतश: धिक्कार है, जिसके कारण इसमें पुत्ररूपी कमलों का आविर्भाव ही नहीं होता। अरे! मैं नाममात्र की स्त्री हूँ। वास्तव में स्त्री शब्द से

पुकारे जाने की मुझमें योग्यता ही नहीं है। शब्दशास्त्र के वेत्ता गर्भ से पुत्र की उत्पादिका नारी को स्त्री कहते हैं। परन्तु मैं अपनी तरफ जब दृष्टि डालती हूँ तो इस अर्थ की अपने में गन्ध भी नहीं पाती हूँ, इसलिए जिस प्रकार वर्षाकाल की लाल जंगल की कीड़ी को लोग इन्द्रवधूटिका कहकर पुकारते हैं, जिसका अर्थ इन्द्र की सहचारिणी शची होता है परन्तु उस बेचारी में शची के योग्य एक भी ऐश्वर्य नहीं होता। लोगों ने केवल उसकी रूढ़ि संज्ञा कर ली है, उसी प्रकार मुझे भी लोग लोक व्यवहार के लिये स्त्री-स्त्री कहते हैं। परन्तु वास्तव में उसकी मुझमें कोई भी योग्यता नहीं है। पुत्र की उत्पत्ति में स्त्री का जन्म सफल होता है। उसके होने से ही परिवार के लोग सास-ससुर आदि सब उसका सत्कार करते हैं और उसके अभाव में अन्य की तो बात ही क्या है, उसका खास आधा अंग स्वरूप पति तक भी उससे रुष्ट हो जाता है, वह भी उसकी कुछ बात नहीं पूछता। जिस प्रकार बिना व्याकरण के जाने किसी भी भाषा का विद्वान लोगों की दृष्टि में श्रेष्ठ विद्वान या आदरणीय नहीं समझा जाता, उसी प्रकार कैसी भी सुन्दर स्त्री बिना पुत्र की उत्पत्ति के श्रेष्ठ और आदरणीय नहीं समझी जाती। मैं एक पुत्ररूपी दीपक के न होने से अन्धकार से आच्छत्र, उद्वेग के करनेवाली रात्रि के समान मोह से मुग्ध, कुटुम्बी लोगों को उद्वेग के करनेवाली हूँ। हाय! यदि मेरे अब तक कोई पुत्र हो जाता तो आज ऐसे दु:ख की भाजन होने का मुझे क्यों ही दुर्भाग्य प्राप्त होता है।''

सेठानी जीवंजसा पुत्र के न होने से इस तरह अपने मन में नाना तरह के संकल्प-विकल्प कर ही रही थी और अपने एक हाथ की हथेली पर कपोल रखे गर्म-गर्म श्वांस छोड़ रही थी कि उसके उस

उदासीनता भरे मुख पर सभा के लोगों की एकाएक दृष्टि जा पड़ी। बस! सभासदों का देखना था कि जिस प्रकार वर्षाऋतु की मेघवर्षा के कारण तालाबों का बाँध टूट जाता है, उसी प्रकार उसके हृदय सरोवर का बाँध टूट गया, उसके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह चली और धड़ाधड़ आंसू पृथ्वी पर गिरने लगे। सेठानी को ऐसी शोकभरी हालत देख सभा के समस्त सदस्यों को दु:ख हुआ, वे उसकी इस हालत का समस्त पूरा-पूरा वृतान्त जानने के लिये अपनी-अपनी उत्सुकता दिखलाने लगे। अवधिज्ञानधारी गुणचन्द्र मुनिवर ने जब उसकी और उसकी हालत में आश्चर्य सागर में डुबकी लगानेवाली सभा की वैसी सभा देखी तो वे अपने सत्यार्थ पदार्थों के जाननेवाले ज्ञान की ओर दृष्टि लगाकर इस प्रकार कहने लगे -

''हे विशुद्ध हृदयवाली शीलधुरंधर जीवंजसो! धैर्य रख। जिस पुत्र के न होने से आज तुझे दु:ख का सामना करना पड़ा है, वह पुत्र तेरे शीघ्र ही उत्पन्न होगा। संसार में यों तो सबके ही पुत्र हुआ करते हैं और वे अपने-अपने माता-पिताओं को प्यारे भी लगा करते हैं, परन्तु तेरे ऐसा - वैसा सामान्य पुत्र नहीं होगा। समस्त विद्याओं का पारगामी वह अपनी गंभीरता से समुद्र की गंभीरता को भी नीचा दिखा सकेगा। सुन्दरता में जगद्विजयी काम को भी वह परास्त कर देगा। धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पदार्थों का बराबर सेवन करनेवाला होगा। जिस प्रकार सूर्य अपने तेज से आकाश को भूषित करता है, उसी प्रकार वह भी अपने गुणों के तेज से तेरे कुल को भूषित करेगा। तू अधिक मत घबड़ा। शोक करने की तुझे कोई आवश्यकता नहीं है। मैं निश्चय से कहता हूँ कि थोड़े दिनों में ही

पूर्वोक्त गुणशाली पुत्र होगा और वह तेरे कुल को दीप्त करेगा।''

मुनि महाराज के मुख से अपने पुत्र की उत्पत्ति और उसके गुण-वर्णन सुनकर सेठानी जीवंजसा के हर्ष का पारावार न रहा। जो थोड़ी देर पहिले उसका मुख वृक्ष पुत्र विरहरूपी ग्रीष्मऋतु के असह्य आताप से कुम्हलाकर फीका पड़ गया था, वही अब पुत्रोत्पत्ति की आशारूप मेघवर्षा होने से हरा-भरा हो गया। उसके मुख मंडल पर पहिले से भी अधिक दीप्ति दमकने लगी। जो अश्रुप्रवाह उसके शोक के कारण बहा था, अब वह ही हर्ष से जायमान हो बहने लगा। मुनि वचनों से जीवंजसा का वृतान्त जानकर सम्पूर्ण सभा के हर्ष और विस्मय का कुछ भी ठिकाना न रहा। वह मुनि के उस परोक्ष वृतान्त के जानने की शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी। अब तक जिन मुनि को वह सामान्य समझती थी, उन्हें ही अब बड़े महत्व से देखने लगी। सो ठीक ही है, संसारी जीव अपनी सी शक्तिवाले ही सामान्य पुरुष सबको समझा करते हैं, जब परीक्षा का अवसर आता है, तब ही गुणों की कदर और हीनाधिकता की समझ होती है।

मुनि महाराज का जब समस्त उपदेश समाप्त हो चुका और सभा के लोग अपने-अपने गृहस्थी के कार्य करने के लिये घर चले गये तो सेठानी जीवंजसा भी अपने परिवार के साथ घर की तरफ रवाना हो गई और अत्यन्त हर्षपूर्वक निर्विघ्न रीति से अपने घर जा पहुँची। जीवंजसा की किंवदंती और उसके भावी पुत्र की उत्पत्ति का समाचार जब सेठ जीवदेव ने सुना तो उसे भी बड़ा हर्ष हुआ और उससे अपने मन के सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्ध हुए समझने लगा।

थोड़े दिनों के बाद जीवंजसा ने गर्भ धारण किया। वह जिस

प्रकार प्रात: काल अरुणोदय से पहिले गर्भस्थ सूर्य के प्रताप से पूर्व दिशा अधिक दीप्त होने लगती है, उसी प्रकार गर्भ में आये हुए पुण्यात्मा पुत्र के गुणों से अधिक दीप्त होने लगी। उदरस्थ बालक के होने से उसके शरीर में एक विलक्षण शोभा आ गई। उसका मुखमण्डल पीला पड़ गया। कुच अग्रभाग में श्यामवर्ण हो गये। उदर की त्रिवली सर्वथा नष्ट हो गयी। रह-रहकर क्षण-क्षण में जंभाईयों का आना प्रारम्भ हो गया। घर के काम काज करने में अब उसका जी कम लगने लगा। जिन कार्यों को वह पहिले बड़ी स्फूर्ति से करती थी, उनके करने में अब उसे आलस्य आने लगा और यहाँ तक कि वह अब धीरे-धीरे चलने में भी कष्ट समझने लगी।

इस प्रकार गर्भस्थ बालक की सूचना देनेवाले जब समस्त चिह्न उसके प्रगट हो गये तो उसे उस पुत्र के गुणों की सूचना देनेवाला जिनेन्द्र भगवान के पूजन करने का दोहला भी उत्पन्न हुआ और इस शुभ दोहला से उसके समस्त कुटुम्बियों में भी आनन्द की छटा छा गई।

दिन बीतते देरी नहीं लगती। धीरे-धीरे सप्ताह, पखवाड़े, महीना और युग तक बीत जाया करते हैं। सेठानी जीवंजसा के गर्भ में आये हुए बालक को भी धीरे-धीरे नौ महीने पूर्ण हो गये और उसके उत्पन्न होने का दिन आ गया। यथासमय सेठानी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। घर के सब लोगों में आनन्द की सीमा न रही। दासी-दास आदि सब ही खुशी के मारे फूले न समाये। बिजली के समान इसकी खबर सेठजी के और समस्त नगरवासियों के कान तक पहुँच गई। सेठ जीवदेव ने अपने पुत्र जन्म की खुशी में दूर-दूर देश देशान्तरों से आये हुए दीन-दु:खियों को और आशीर्वाद पढ़नेवाले ब्राह्मणों को इच्छा से भी अधिक दान दिया एवं मंगल गीत वादित्र

आदि हर्षसूचक अनेक कार्य कराये। एक तो सेठ जीवदेव वैसे ही दान देने में कुशल थे परन्तु जब उन्हें ऐसा हर्षवर्धक शुभसंयोग प्राप्त हो गया तो अब उनके उस गुण की बात ही क्या थी? उन्होंने खूब ही उत्सव कराया और घर पर आया हुआ ऐसा कोई भी दीन याचक व्यक्ति को न छोड़ा तो अपने मनोरथ को पूर्ण करके हर्षित हो घर को वापिस न गया।

सेठजी जैनधर्म के भी पूर्ण भक्त थे। सर्वज्ञप्रणीत शासन के अनुसार प्रवृत्ति करना ही वे श्रेयस्कर और उत्तम समझते थे, इसलिए उन्होंने आगमानुसार अपने पुत्र के जातकर्म आदि संस्कार करा बड़े ठाठ बाठ से जिनेन्द्र भगवान की पूजन करायी और अपने वृद्ध बन्धु बांधवों के साथ उन्होंने उस बालक का नाम जिनदत्त रखा।

पुत्र जिनदत्त अपने समान रूपवाले लड़कों के साथ धीरे-धीरे बढ़ने लगा। जिस प्रकार द्वितीया के चन्द्रमा की दिनों दिन कलायें बढ़ती जाती हैं, उसी प्रकार उसके अंग और गुण धीरे-धीरे बढ़ने लगे। जो पुत्र पहिले रोने के सिवा कुछ न कह सकता था, वह अब पापा, मामा आदि शब्दों से इशारे करने लगा। जो खटोला आदि पर लेटने के सिवा कुछ नहीं कर सकता था, अब वह घुटनों के बल पृथ्वी पर सरकने लगा। उसके बाद उसने अव्यक्त वाणी छोड़कर स्पष्ट वाणी बोलना प्रारम्भ कर दिया एवं पृथ्वी के बल सरकने की जगह बिना किसी की सहायता के स्वयं खड़ा हो चलने फिरने लगा।

चिरंजीव जिनदत्त ने जब शिशु अवस्था को छोड़ बाल्य अवस्था में पैर पसारा तो उसके पिता जिनदेव ने किसी बुद्धिमान श्रावक के

पास उसे सत्य शिक्षा से शिक्षित होने के लिए सुपुर्द कर दिया और वह उससे विनयावनत हो पढ़ने लगा।

विद्या शीघ्र आने में बुद्धि, विनय और परिश्रम चाहिए। यदि इन तीनों में कोई भी एक कारण कम हो तो वह शीघ्र नहीं आती। हमारे चरितनायक जिनदत्त में ये तीनों ही बातें उपस्थित थीं। वह बुद्धि का भी पैना था। विनयी भी खूब था और परिश्रम करने में भी सुनिपुण था, इसलिए उसने बहुत ही थोड़े दिनों में प्रधान प्रधान सर्वशास्त्र पढ़ डाले और उनमें पण्डित हो गया। चतुर जिनदत्त को केवल इन मानसिक शक्ति और बढ़ानेवाले शास्त्रों को पढ़कर ही सन्तोष न हुआ। उसने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध अस्त्रशास्त्रियों से उनकी सुश्रूषाकर धनुष छोड़ना, तलवार चलाना आदि शारीरिक शक्ति बढ़ानेवाली क्रियाएँ भी सीख लीं एवं वह उनमें भी पारंगत हो गया।

इस प्रकार जब शारीरिक और मानसिक शक्तिवर्द्धक ज्ञान उसने प्राप्त कर लिया तो अब उसका लक्ष्य अपने पिता-प्रपिता आदि के कार्यों की ओर भी गया। उसने जिस प्रकार अपने पूर्वजों को ऐहिक जीविका निर्वाहार्थ क्रिया देखी, उसके सीखने के लिये भी उसका चित्त लालायित हो गया। पूर्वापर विचार करके उसने अपने परम्परागत अर्थशास्त्र के ज्ञान सम्पादन को भी अपना प्रधान लक्ष्य समझा। इसलिए उसने उस विद्या का अध्ययन करके भी अपना वैश्यत्व यथार्थ कर डाला और अब वह अपने पिता आदि के समान प्रज्ञानुजीवी होने के सर्वथा योग्य हो गया।

जिनदत्त अब बालक नहीं रहे। जब से पढ़ना प्रारंभ किया, तब से अब तक उनके मानसिक परिवर्तन के साथ शारीरिक संगठन में

भी खासा परिवर्तन हो गया। वे अब बालक कहलाने के योग्य नहीं रहे। युवा अवस्था के सम्पूर्ण लक्षण उनमें प्रकट हो गये। जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों से आकाश शोभित होता है, श्रेष्ठ तपों के तपने से मुनिश्वर श्रेष्ठ समझे जाते हैं, न्याय मार्ग का अनुसरण करने से राजा प्रशंसनीय गिना जाता है, नवीन पुष्पों से वृक्ष शोभित होता है और राजहंसों से सरोवर अच्छा मालूम पड़ता है, उसी प्रकार यौवन लक्ष्मी के आने से वे शारीरिक संगठन के कारण अधिक तेजस्वी और शोभायमान दिखने लगे। मानसिक शक्ति के बढ़ने से मनुष्यों में प्रतिष्ठित हो गये। जिनेन्द्र भगवान के चरणों में अविचल भक्ति रखने लगे। अपने सहधर्मी सज्जन पुरुषों से अधिक प्रीति करने लगे और दया आदि नाना गुणों से भूषित होने के कारण समस्त संसार में प्रसिद्ध हो गये।

इस प्रकार श्रीमद् आचार्य गुणभद्राचार्यविरचित संस्कृत जिनदत्तचरित्र के भावानुवाद में पहला सर्ग समाप्त हुआ।

द्वितीय सर्ग

हमारे चरित नायक जिनदत्त युवावस्था आने के कारण आजकल के युवकों के समान काम विलास से पीड़ित ना हो गये थे। यद्यपि उनका शरीर कामारंभ के सूचक यौवन के प्रभाव से दमक निकला था तो भी उनके मन पर उसका वैसा प्रभाव न पड़ पाया था। वे अपने उन दिनों के समय को कभी तो काव्यरूपी अमृत के आस्वादन करने में बिताते थे, कभी विनोदक क्रीड़ाओं को करने में लगाते थे, कभी अपने गुरुओं के साथ वाचनिक शक्ति को बढ़ान के लिये वाद करने में खर्च करते थे, कभी वितंडा, कभी जल्प और कभी अन्य किसी प्रकार से शास्त्र चर्चा करने में लगाते थे। वे कभी घोड़े पर चढ़ने से अपने मन को प्रसन्न करते थे, कभी रत्नों की परीक्षा कर अपना उस विषय का पाण्डित्य दिखलाते थे। कभी साधुओं की सेवाकर आशीर्वाद ग्रहण करते थे, कभी जिनेन्द्र भगवान की पूजा भक्ति कर अपना आस्तिक्य दिखलाते थे और कभी राजकार्य कर राजभक्त होने का तथा राजनीति निपुणता का अपना परिचय देते थे।

सेठ जीवदेव ने जब इनकी यह अवस्था देखी तो उन्हें बड़ी चिन्ता होने लगी। जैसे-तैसे तो एक पुत्र पाया था। और जब वह भी विरागी हो जीवन बीताते देखा तो उनसे न रहा गया। वे इस बात की कोशिश करने लगे कि चिरंजीव जिनदत्त किसी प्रकार विवाह करने पर राजी हो जाये। सेठजी ने इस अपनी आन्तरंगिक कामना को जब ऐसे वैसे होते न देखा तो उसे पूरी करने के लिये उन्होंने अपने पुत्र

के साथ सर्वदा रहने के लिये कई मित्र नियुक्त कर दिये और वे नाना तरह से उसके मन को कामकला की ओर प्रवृत्त कराने का उद्योग करने लगे। कभी तो वे नियुक्त नवीन मित्र जिनदत्त को विलासियों के हरे-भरे बगीचों में लिवा जाते और वहाँ उनके युगलों की परस्पर कामक्रीड़ा को दिखाते। कभी जल क्रीड़ा को करती हुई कामिनियों के स्तन कुंकुमों की पीतमा से पीत वापियों का निदर्शन कराते। कभी पणवनिताओं के हावभावों से भरे सुन्दर रूप का अवलोकन कराते। कभी नाट्यशालाओं में ले जाते। कभी मनोहर कामोद्दीपक गीत सुनवाते। कभी कामरस की भरी गहरी-गहरी दिल्लगी करते। कभी नाना सुगन्धियों से सुगन्धित माल्य भूषण पहिनाते और जिनके रूप के देखने से बड़े-बड़े मनस्वी ब्रह्मचारियों के भी मन विचलित हो जाये, ऐसी अनुपम स्त्रियों से प्रतिदिन इनका स्नान करवाते।

एक दिन की बात है कि अपने पूर्व मित्रों के साथ जिनदत्त दर्शन करने की इच्छा से कोटिकूट चैत्यालय गये थे कि वहाँ उसके दरवाजे की सीढ़ियों पर चढ़ते समय उनकी दृष्टि एक पुत्तलिका पर जा पड़ी। वह पुत्तलिका मन्दिर के मण्डप द्वार पर किसी प्रसिद्ध कारीगर द्वारा उकेरी गई थी। उसके प्रत्येक अंग का निर्माण देखने से शिल्पकला की पराकाष्ठा मालूम पड़ती थी। उसको शरीर का हर एक अवयव स्पष्ट और मनोहारी था। हमारे चरितनायक की ज्योंहि दृष्टि इसके रूप पर पड़ी, वे चकित हो गये। उनके क्षण भर पहिले जो पवित्र भाव थे और जो अभी तक किसी भी कारण से विकृत न हो पाये थे, वे सहसा दूसरे ही प्रकार के हो गये।

मूर्ति की मनोहारिता ने उन पर पूरा प्रभाव जमा लिया। पहिले तो उनकी दृष्टि उस मूर्ति के समस्त रूप पर पड़ी और फिर उसके

बाद क्रम-क्रम से शरीर के हर एक अंग पर पड़ने लगी। उनके नेत्र ज्योंही उस मूर्ति के चरणरूपी कमलों पर पड़े तो वे भ्रमर के समान उनकी ही गन्ध लेते रहे। नितम्ब भाग पर पड़े तो निधिभरित कलश की तरफ दरिद्र की भाँति उसकी ही तरफ लालसा भरी दृष्टि से देखने लगे। लावण्य रूपी रस से परिपूर्ण नाभि कुण्ड पर पड़े तो मदन की ताप से पीड़ित के समान उसी में डुबकी लगाने लगे। रोमराशि पर पड़े तो महादेव से लिखी हुई प्रशस्ति समान उसे ही पढ़ते रह गये। मध्यस्थ कृश उदर पर पड़े तो त्रिवली रूपी रज्जु से बंधे हुए के समान वहीं अटक गये। मनोहर स्तन रूपी दो पर्वतों के मध्य में पड़े तो उनके मध्यवर्तीनी खाई के समान उसी में ही गिरकर रह गये। मनोहर हार के ऊपर पड़े तो उसका सहारा ले किसी प्रकार रेखात्रितय से सुन्दर कण्ठ तक पहुँचने की कोशिश करने लगे। बाहुओं पर पड़े तो समस्त संसार में भ्रमण करने से श्रांत हुए काम के आश्रय स्थान के समान सुन्दर उसी का आश्रय ले ठहर गये, मुखचंद्र पर पड़े तो काम की दाह में संतप्त के समान उसी की शीतल किरणों की छाया में रहने की चेष्टा करने लगे और केशरूपी पाश (जाल) पर पड़े तो वे वहीं उससे बद्ध हो निश्चेष्ट हो गये।

जिनदत्त ने जब इस प्रकार अपनी दृष्टि उसके केश पाश द्वारा काम से बद्ध पाया और अपने को उसके सर्वथा अधीन समझा तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे-

''अहा! इस मूर्ति का रूप बड़ा ही अनुपम और उत्तम है, इसके निर्माण करने में शिल्पी ने शिल्प विद्या का पूरा परिचय दिया है। पाषाण से निर्मित होने पर भी इसमें कांति, लावण्य, सद्रूप, सौभाग्य आदि की यथेष्ट आभा दिख पड़ती है। जिसका यह

प्रतिबिम्ब है, न जाने वह कितनी सुन्दर होगी। ऐसा बढ़िया रूप तो बिना किसी आधार के कोई कभी खींच नहीं सकता, इसलिए अवश्य ही यह किसी न किसी की प्रतिलिपि है। मैंने आज तक सैकड़ों एक से एक उत्तम सुन्दर स्त्रियाँ देखी हैं। परन्तु कभी भी पहिले इस प्रकार मेरा चित्त विकृत न हुआ था। आज इस मूर्ति के देखनेमात्र से मेरे चित्त की विचित्र ही दशा हो गई है। ऐसा स्नेह बिना पूर्व भव के संयोग के कभी नहीं होता। यदि यह मूर्ति किसी आधार के आश्रय न हुई किसी की प्रतिमूर्ति न निकली तो मेरा जीवन मुझे संकटमय ही दीखता है। मेरे प्राण बचना कठिन है। परन्तु ऐसा होना असम्भव है। अवश्य ही यह किसी जीती जागती स्त्री की प्रतिमूर्ति है, काल्पनिक नहीं। क्योंकि किसी पदार्थ को देखकर जो प्रेम होता है, वह पूर्व भव के सम्बन्ध से होता है। बिना उसके वह कभी उदित नहीं होता। अचेतन पदार्थ में जो रूपातिशय रहता है, उससे केवल उसकी शोभा ही होती है, किसी को किसी प्रकार का अनुराग विशेष नहीं होता और मुझे अनुराग विशेष हो रहा है।

पहिले तो सांसारिक भोग ही भोगना बुरा है और यदि वे भोगे ही जायें तो ऐसी ही आनन्ददायक अनुपम सुन्दर स्त्री के साथ उन्हें भोगना चाहिए। यह मेरे मन को अतिशय अपने में अनुरक्त कर रही है और यह है भी वास्तव में श्रेष्ठ। इसलिए यदि इसके साथ ही मैंने संसार सुख न भोगे तो फिर पाले से म्लान किये गये आभारहित कमल के समान मेरा यह नव यौवन ही निरर्थक है। इसके साक्षात् होने मात्र से काम ने मेरे ऊपर अपना बाण ताना है, इसलिए यह संसार में सुन्दरियों की शिरोमणि है।

अहा! अब मालूम हुआ। संसार में ऐसी-ऐसी ही अनेक मनोहारिणी रमणियाँ हैं, इसलिए जो लोग बड़े-बड़े तत्त्वों के जाननेवाले भी हैं, वे भी इनके रूप में फँसकर संसार से विरक्त नहीं होने पाते। अरे! रुद्र आदिक अनेक तेजस्वी पुरुष भी इनके कटाक्ष बाणों से भिंद गये और आसक्त हो इनमें ही जब रमण करने लगे तो मुझ सरीखे क्षुद्र पुरुष की तो बात ही क्या है? यह मुझे सुन्दरतारूपी जल की भरी बापी मालूम पड़ती है, इसलिए मैं इसके समस्त सौन्दर्यरूपी जल को क्या अपने नेत्ररूपी पात्रों से पी जाऊँ? क्या इसको अपने समस्त अंगों से स्पर्श कर डालूँ और क्या प्रविष्ट हो एकम एक हो जाऊँ?

हमारे चरितनायक इस प्रकार की उधेड़बुन में लग अपना समय बिता ही रहे थे और स्तम्भित हो अपने जिनदर्शन के उद्देश्य को भूल रहे थे कि इतने में इनके साथी मित्र मकरन्द ने इनके मन का भाव ताड़ लिया। वह इनकी आकृति से पुत्तलिका का प्रभाव इनके ऊपर पड़ा देख मन ही मन अति प्रसन्न हुआ। चिर काल के बाद अपने और सेठ जीवदेव के मनोरथ को सिद्ध हुआ देख इसके हर्ष का पारावार न रहा।

वह मुस्कराकर अपने मित्र जिनदत्त से बोला-

''मित्र! क्या इस अचेतन पुत्तलिका ने आपका मन हरण कर लिया है? जो आप इस तरह निर्मनस्क हो खड़े हैं। क्या आप अपने यहाँ आने के उद्देश्यों को सर्वथा भूल गये?''

साथी मकरन्द के इस ताना भरे वाक्य से लज्जित हो और 'जैसा आप कहें' ऐसा वचन कहकर जिनदत्त अपने हाथ में उसका हाथ

पकड़कर मन्दिर के भीतर प्रविष्ट हो गये और जिनबिम्ब के दर्शनकर कुछ काल के लिये अपने मनोहारी लक्ष्य को भूल गये। मन्दिर में जाकर जिनदत्त ने भगवान की तीन प्रदक्षिणा दी, उनके शान्तस्वरूप का अनुभव किया और अनेक स्तोत्रों से उनकी स्तुति की।

धार्मिक कृत्य समाप्त कर जिनदत्त ज्यों ही मन्दिर से बाहर हुए कि उनका मन फिर वैसा का वैसा ही हो गया। भगवान की शान्त मूर्ति को देखकर जो भाव शान्त हुए थे, फिर उस प्रतिमूर्ति के स्मरण से विकृत हो गये और जिस प्रकार मंत्र से आकृष्ट पुरुष बिना अपनी इच्छा के जहाँ ले जावो, वहाँ चला जाता है, उसी प्रकार ये भी अपनी इच्छा के न होते हुए घर की तरफ रवाना हो गये।

घर पहुँचकर हमारे युवा जिनदत्त की विलक्षण ही हालत हो गई। इन्हें एक साथ कामज्वर ने अपने तीव्र आघात से घायल कर दिया। कामज्वर के असह्य आताप से इतना घबड़ा गये कि महान्-महान् अगणित पुष्पों की शैय्या पर लेटकर भी ये शान्तिलाभ न कर सके। रात-दिन सिवा उस लक्ष्य के स्मरण के ये कुछ भी विनोदादिक न करने लगे। कामज्वर की शांत्यर्थ इनके शरीर पर जो चन्दन का लेप किया, जो कपूर घिसकर लगाया गया और जो कुछ भी पद्मनाल खसखस आदि शीतल पदार्थों की मालिश की गई, उस सबने इनकी कामाग्नि पर घी का काम किया। घटने के बदले उन उपचारों से उसने और भी तीव्र वेग धारण किया। 'हाय! प्रिय पदार्थों के वियोग होने से तो यही अच्छा है कि इस पर्याय का अन्त ही हो जाये। जिससे इसके ये समस्त दु:ख न सहने पड़े। अरे काम! जिसकी केवल प्रतिमूर्ति ही देखकर मेरा मन इतना मुग्ध हो गया, जिसने अपने साक्षात् दर्शन न देकर अपनी तस्वीर दिखाकर ही मेरा

हरण कर लिया, उसको तुम क्यों नहीं बाणों की वर्षा से जर्जरित करते? मेरे मन को चुराने से वह अपराधिनी है, उसको तुम्हें दण्ड देना चाहिए। निरपराधी मुझ पर अपनी बाण वर्षाकर दण्ड देना तुम्हारा सरासर अन्याय है।' इत्यादि असम्बद्ध वचन कहकर उन्होंने उस एक स्वरूप ही तीनों जगत् को समझा। सर्वत्र उन्हें वह अपनी मनोहारिनी छवि ही छवि दीखने लगी। कामज्वर की तीव्र उष्ण श्वासों से उनके ओष्ठ म्लान हो सूख गये। इसलिए मन बहलाने के लिये गाने की इच्छा होने पर भी वे गा नहीं सके। और उनकी इस इच्छा को देख जो कोई मधुर स्वर में गाने लगा उसके उस स्वर को उन्होंने काम के धनुष के टंकार के समान भयंकर कर्ण पीड़ा करनेवाला समझा। उनकी उत्तरोत्तर इस कामज्वर से भयंकर ही दशा हो गई। वे अपनी दोनों बाहुओं को पसार कर उसके आलिंगन की इच्छा से कभी पृथ्वी पर लेटने लगे। कभी आकाश में हाथ बढ़ाने लगे और कभी दिशा विदिशाओं में उठ-उठकर भागने लगे। इस प्रकार उनका सम्पूर्ण शरीर पसीने की बूँदों से तरबतर हो गया और मूर्च्छा ने उन्हें आ घेरा।

सन्निपात ज्वर के समान कामज्वर से होनेवाली जब सब चेष्टायें जिनदत्त की उनके मित्रों और उपचारकों को मिटती न दीखीं तो उनके छक्के छूट गये। वे घबराकर सेठ जीवदेव के पास पहुँचे और उनसे समस्त वृत्तांत सुनकर शीघ्र ही प्रतिक्रिया की प्रार्थना करने लगे।

पुत्र की उपर्युक्त दशा का वर्णन सुन सेठजी मन में बहुत ही प्रसन्न हुए, मारे हर्ष के उनके शरीर में रोमांच खड़े हो आये। वे 'अहा! संसार में स्त्रियों से बलवान कोई भी पदार्थ नहीं है। जिस

कार्य को कोई भी पदार्थ सिद्ध नहीं कर सकता, उसे वे सहज में ही कर डालती हैं। देखो! जिन लोगों के हृदय पटल को तीक्ष्ण से तीक्ष्ण भी वज्रसूईयाँ नहीं भेद सकतीं, उनके ही उस कठिन वक्षस्थल को ये अपने कटाक्षों द्वारा बात की बात में घायल कर देती हैं। मेरा पुत्र इतना बड़ा पंडित और ज्ञानी है। परन्तु उसे भी उन्होंने अपने तीर का निशाना बना डाला। यह मेरे लिये बड़े ही सौभाग्य की बात है। अब मुझे 'मेरी आगे कुलपरम्परा कैसे चलेगी' इस बात की कोई चिन्ता नहीं रही' इत्यादि आगामी शुभसूचक भावनाओं का ध्यान कर कुछ-कुछ मुस्कुराने लगे और पुत्र की दशा के सूचक मित्रों को ताम्बूल भूषण आदि से यथायोग्य सत्कारकर पुत्र की वास्तविक अवस्था को जानने के लिये चल दिए।

पुत्र के पास पहुँचकर सेठजी ने जब उसकी वैसी अवस्था देखी तो वे गहरे विचार सागर में डूब गये। पहिले तो वे यह विचार कर कि 'पुत्र की इस समय कामज्वर से अवस्था तो बड़ी ही भयानक है और उसके मनोरथ की सिद्धि फिलहाल बहुत ही दु:साध्य मालूम पड़ती है। न जाने भाग्य में क्या होना लिखा है? इसके अभीष्ट की सिद्धि होगी या नहीं। कुछ देर तक चुप रहे परन्तु फिर अपने इस मन के भाव को मन में छिपाकर उसे ढाढ़स देने के लिये बोले-

''चिरंजीव प्यारे बेटे! तू खेद छोड़, तू महा बुद्धिमान है, तेरे लिये अधिक कहना व्यर्थ है। तूने जो खाना, पीना स्नान आदि करना छोड़ रखा है, उसे फिर तू निश्चिंत हो कर! तेरे समस्त अभीष्टों को मैं अवश्य ही शीघ्र पूरा करूँगा। जिस कन्या को देखकर मन मुग्ध हो गया है, वह चाहे राजा की लड़की हो, चाहे विद्याधर की कन्या हो और चाहे अन्य किसी पुरुष की ही हो,

अवश्य ही उसका तेरे साथ संयोग करा दूँगा। तू यह न समझ मैं तेरे लिये कुछ यत्न न करूँगा। नहीं! अपने समस्त कार्य छोड़कर भरसक ऐसा दृढ़ प्रयत्न करूँगा जिससे अवश्य ही तेरा उसके साथ विवाह हो जाएगा।''

उपर्युक्त साहस भरे वचनों से पुत्र को कुछ सन्तुष्ट कर सेठ जीवदेव अपने पुत्र की प्यारी मनोहारिणी मूर्ति को देखने के लिये कोटिकूट चैत्यालय की तरफ गये और वहाँ उसे देखकर अपना सिर हिलाते हुए कहने लगे-

''अहा! संसार की समस्त नारियों के रूप और लावण्य को अपने रूप और लावण्य के प्रभाव से जीतनेवाली यह मूर्ति धन्य है। अवश्य ही यह किसी न किसी की प्रतिमूर्ति है। बिना किसी कन्या के रूप देखे ऐसी मूर्ति का बनाना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है। मेरे पुत्र का जो इसके रूप देखने से मन मुग्ध हो गया, सो ठीक ही है। ऐसे रूप को देखकर मन का मुग्ध न होना ही आश्चर्यकारक है। जो ऐसे अप्रतिम रूप को देखकर भी मुग्ध नहीं होते, वे वास्तव में या तो नीरस आत्मा हैं या फिर अचेतन पत्थर के ही समान हैं।''

सेठजी ने कुछ देर तक इस तरह का विचार कर जिस कारीगर ने उस मूर्ति को अंकित किया था, उसे ढूंढकर बुलाया और उससे पूछा कि-''महाभाग! यह किसकी तो मूर्ति है? कहाँ की यह रहनेवाली है? और यह कैसी है?'' उत्तर में शिल्पी बोला -

''सेठजी! चम्पानगरी में एक अतिश्रेष्ठ विमल सेठ रहते हैं। उनकी यह सुन्दर सुता है। एक दिन मैंने इसे अपनी समवयस्क सहेलियों के साथ गेंद खेलते एक जगह देखा था। इसका रूप बड़ा

ही मनोहर है। समस्त शरीर के अवयव सुकोमल हैं। उस समय यह अपने केशपाश की चोटी में चारों तरफ पुष्प लगाये थी। उनकी सुगन्धि से गुंजारते हुए भ्रमर इसके सिर पर भ्रमणकर अपूर्व ही शोभा बढ़ा रहे थे। खेल में परिश्रम पड़ने के कारण इसके कपोल भाग पर पसीना की सूक्ष्म-सूक्ष्म बिंदुएँ झलक रहीं थीं। यह अपने उड़ते हुए वस्त्रों को और लटकते हुए हार को बाँधकर मण्डली में लक्ष्य बाँधकर खेल रही थी और अतिशय रमणीय मालूम पड़ती थी। ज्योंहि मैंने इसको देखा तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और इसकी सुन्दरता पर प्रसन्न हो मैंने वहाँ से आकर यह मूर्ति यहाँ उकेर दी। यद्यपि मैंने उसी कन्या को मन में रखकर यह मूर्ति बनाई है तो भी मुझे विश्वास है कि पूरी तरह से वैसी नहीं आई। यह केवल उसका सौवाँ हिस्सा है।''

कारीगर के उपर्युक्त वचन सुनकर सेठजी प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे बहुत पारितोषिक दिया और जिनदत्त की प्रतिमूर्ति किसी पट पर उससे चित्रित करने को कहा। जब मूर्ति पट पर अंकित हो गई तो सेठजी ने सन्देश कुशल श्रेष्ठ पुरुष शीघ्र ही बुलवाये और उन्हें चम्पापुरी विमल सेठ के यहाँ जाने को कह रवाना कर दिया।

सन्देशवाहक लोग यथासमय चम्पापुरी पहुँचे और विमल सेठ के यहाँ जाकर जिनदत्त का चित्रपट तथा सेठजी का पत्र दिखाकर बोले-

''श्रीमान! हमारे सेठ साहब ने आपकी सेवा में यह अपने पुत्र का चित्र और यह उसके साथ लिखित सन्देश भेजा है। इसका आप जैसा उचित समझें, वैसा उत्तर देकर हमें कृतार्थ करें।''

सेठ विमलचन्द्र गम्भीर और विवेकी पुरुष थे। उन्होंने ज्योंहि जिनदत्त का फोटो और सेठ जीवदेव का सन्देश भरा पत्र देखा, वे मन में बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने कर्तव्य को घर बैठे और शीघ्र ही सफल होते देख आगत पुरुषों का खूब ही आदर सत्कार किया। सेठजी के पास कार्यवश आई हुई पुत्री विमला ने जब उस चित्र को देखा तो उसका चित्त भी अचानक ही काम के बाणों से घायल होने लगा। चित्र के देखने मात्र से उसके मन की विलक्षण दशा हो गई। उसके मन में उस चित्र का रूप मानो संक्रान्त ही हो गया। इस रूप से ही वह निश्चेष्ट खड़ी हो गई। उस समय उसकी एक सखी वसन्तलेखा भी वहाँ उपस्थित थी। उसने ज्योंहि उस चित्र को देखना चाहा तो उसने उसे वह नहीं देखने दिया और स्वयं एकान्त में टकटकी लगाकर देखने लगी तथा मन ही मन मुस्कराने लगी। विमला के इस बर्ताव से सेठ विमलचन्द्र ने उसके मन का भाव ताड़ लिया। वे अपनी सम्मति में पुत्री की भी सम्मति समझकर अपने बड़े लोगों से इस विषय में सम्मति पूछने लगे। जब कन्या की वर में और वर की कन्या में उन लोगों ने आसक्ति देखी तो उन्होंने भी इस कार्य को श्रेष्ठ समझा और अपनी सम्मति प्रकट कर हर्ष सूचित किया। इस प्रकार सेठ विमलचन्द्र ने सबकी सम्मति और आज्ञा पाकर अपनी कन्या का जिनदत्त के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया और पत्र में उक्त बात को लिखकर आये हुए पुरुषों को पारितोषिक दे विदा कर दिया।

सेठ विमलचन्द्र का पत्र पाकर जिनदत्त के पिता जीवदेव को भी बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने अपने मन के अनुसार अपने पुत्र की भावी वधू पाकर शीघ्र ही जिनदत्त को विवाहोचित समग्र सामग्री

सहित चम्पापुरी भेज दिया। पिता की आज्ञानुसार अपने मनोहरी लक्ष्य को प्राप्त करने की अभिलाषा से पहुँचकर वे चम्पानगरी के बाहिर उद्यान में ठहर गये और सेठ विमलचन्द्र को अपने आगमन की सूचना दे निश्चिन्त हो गये।

सेठ विमलचन्द्र ने जब जिनदत्त के आगमन का समाचार सुना और अपनी पुत्री का विवाह मंगल निकट समझा तो उनके हर्ष का पारावार न रहा। उन्होंने शीघ्र ही अपने भावी जामाता का यथोचित सत्कार किया। उनको स्नान आदि विधि कराने के लिए अनेक मनुष्य नियुक्त कर दिए। सैकड़ों घर और बाहिर की स्त्रियाँ मंगल गीत गाने लगीं, नृत्य करने लगीं और नाना तरह से अपने हाव-भाव दिखाकर उत्सव मनाने लगीं। तत, घन सुषिर आदि चारों प्रकार के बाजे बजने लगे और उनके शब्दों को सुनकर नगर की स्त्रियाँ अपना-अपना कामकाज छोड़कर सड़क के किनारों के मकानों के झरोखों में आकर एकत्र होने लगीं। जब योग्य समय हो गया और नगर में प्रवेश करना उचित समझा तो जिनदत्त उस समय योग्य सवारी में सवार होकर अपने मित्रों के साथ-साथ उस नगर में प्रविष्ट हो गये और स्त्रियों द्वारा आकांक्षा पूर्वक देखे गये शीघ्र ही अपने श्वसुर के घर पर जा पहुँचे।

हमारे चरित नायक की जब समस्त विवाह के समय होनेवाली क्रियाएँ समाप्त हो गई और पाणिग्रहण के लिये कन्या बुलाई गई तो उन्हें उस अपनी प्यारी के साक्षात् देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ज्योंहि काम की ध्वजा के समान मनोहारिणी उस विमला को उन्होंने साक्षात् देखा, त्योंहि प्रतिलिपि रूप में उसके देखने में जो मन में भाव उदित हुए थे, उनका फिर पूर्व अवस्था से अधिक

संचार हो गया। उस समय तो जिस तिस प्रकार कामुक भाव हृदय में समा भी गये थे परन्तु इस समय तो सर्वथा ही न समा सके। विमला के दर्शनरूपी जल से सींचा गया कामदेवरूपी वृक्ष उनके मनरूपी पृथ्वी में सैकड़ों शाखाओं और प्रतिशाखाओं से वृद्धिंगत होने के कारण उससे बाहिर निकलने की कोशिश करने लगा। काम को लोग चित्तभू केवल चित्त से उत्पन्न होनेवाला कहते हैं परन्तु उस समय वह (काम) उन (जिनदत्त) के समस्त अंगों से उत्पन्न हो रहा था, इसलिए पूर्वोक्त वचन सर्वथा मिथ्या प्रतीत होने लगा। ज्यों-ज्यों सुन्दरता देखने के लिए अपने समुत्सुक चक्षु उन्होंने उसके अंगों पर डाले, त्यों-त्यों काम ने भी उन पर अपना बाण तानना शुरु किया। जब पुरोहित ने विमला का हाथ जिनदत्त के हाथ में ग्रहण कराया तो वह भी लज्जा से नम्रीभूत हो अपने पैर के अंगूठे से पृथ्वी को खोदने लगी। कभी तो वह लज्जा से भरे हुए, गाढ़ उत्कण्ठावाले, अलस, समद, स्निग्ध स्वाभाविक विलास से शोभित अपने नेत्रों को जिनदत्त के मुख पर ले जाती और कभी भूमि की तरफ नीचे को दृष्टि गढ़ा टकटकी लगा जाती, जिससे कि उस समय पृथ्वी और जिनदत्त के मुख का मध्यभाग श्वेत और श्याम वर्णवाले अनेक नीलकमलों के दल से आकुलित सरीखा जान पड़ता था। जब वे दोनों उठकर सात फेरे लेने लगे तो विरह से उत्पन्न हुए और इस समय के संगम से दूर हुए बाहिर स्थित सन्ताप को ही प्रदक्षिणा देते हुए सरीखे मालूम होने लगे। अग्नि में होमे गये लाजों के संयोग से जो शब्द हुआ, उससे योग्य वर और कन्या के संगम की प्रशंसा करते हुए के समान अग्नि मालूम पड़ने लगी। धुएँ की तीव्रता से जो उनके शरीर में पसीना आ गया, वह उनके मन के

भीतर नहीं समाने के कारण बाहिर आया हुआ प्रेम रस सरीखा दीखने लगा। जब वे दोनों मौक्तिक माला से अलंकृत तोरणवाली वेदिका में आकर भद्रासन पर बैठ गये, तब श्रेष्ठ क्षत्रियाणी नारियाँ उनके ऊपर जो अक्षत फेंकने लगीं, वे उनके सौभाग्यरूपी लता के बिखरे हुए पुष्पों के समान सुन्दर दिखने लगे।

इस प्रकार जब वैवाहिक समस्त विधियाँ समाप्त हो चुकीं और पाणिग्रहण भी हो चुका तो इन्हें गीत नृत्य आदि उत्सव को देखते-देखते ही सन्ध्या हो गई। सूर्यदेव इनके शारीरिक वियोग को और अधिक न देख सकने के कारण ही मानो अस्ताचल की ओर अपना डेरा डण्डा बाँध किनारा कर गये। यह देख विचारी सरोजिनी को महान दु:ख हुआ, वह अपने पति के इस बर्ताव से बहुत ही दु:खित हुई और उस दु:ख को अधिक होने से न संहार सकने के कारण ही उसने अपने कमल रूपी नेत्रों को बन्द कर लिया। सूर्य के चले जाने और रात्रि के आने से हर्षित हो मृगनयनी कांतायें शृंगार से सुसज्जित होने लगीं और प्रिय तक अपने मन के अभिप्राय को पहुँचाने के लिए दूतियों से आलाप करने में व्याकुल हो गईं। आकाशरूपी पृथ्वी पर जो उस समय लालिमा छा गई, वह कालरूपी हस्ती से उखाड़े सूर्य की रक्तधारा के समान मालूम होने लगी। अपने से प्रकाशित जगत को अन्धकार से आवृत होते देख जब इस प्रकार सूर्य छिप गये तो लोगों ने अपने नित्य कर्म करने के लिए बत्ती और तेल से संयुक्त अन्धकार के नाशक दीपक जलाने शुरु कर दिए। नवीन वधू और वर को कौतुक से देखने के लिए ही मानो आई हुई नक्षत्र और तारारूपी भूषणों से भूषित रात्रि जब सर्वत्र व्याप्त हो गई तो अन्धकाररूपी हस्ती से आक्रान्त अपने राज्य स्थान जगत को

देखकर किरणरूपी छटा से शोभित चन्द्रमारूपी सिंह शीघ्र ही आकाशरूपी अपनी राजधानी में आकर प्रकट हो गया। चन्द्रमा की शीतल किरणरूपी चन्दन धारा से उस समय कामदेवरूपी महाराज का अंगण लिप्त सरीखा मालूम होने लगा। इस प्रकार जब समस्त दिशाएँ उसकी निर्मल किरणों से व्याप्त होने के कारण क्षीर समुद्र के दुग्ध से अभिषिक्त सरीखी, कपूर के रस से लिप्त सरीखीं और अमृत के पूर से मौत सरीखीं मालूम होने लगी तो कामदेव ने अपना अमोघ बाण धनुष पर चढ़ा लोगों पर छोड़ना शुरु किया, जिससे शीघ्र ही अभिसारिकायें अपने-अपने संकेतस्थल पर पहुँचने लगीं, कामी लोग अपनी-अपनी रुष्ट कान्ताओं के माननिर्नाशश्र में परिश्रम करने लगे। नवीन वधूएँ विचित्र रस से कदर्थित होने लगीं। वेश्याएँ अपने चातुर्य से ठगकर निवासियों को भोग कराने लगीं। केतकी के पुष्प की प्रचण्ड गन्ध से भ्रमर मधुर-मधुर गुंजार करने लगे और विरहिनी स्त्रियों की मन स्थित अग्नि प्रचण्ड रूप से धड़कने लगी।

जब इस प्रकार समस्त लोक काम की आज्ञा के पालन करने में दत्तचित्र हो गया तो इन दोनों नवीन वर वधुओं की भी अधिक देर तक वियुक्त रखना इनके सम्बन्धियों ने उचित न समझा, इसलिए शीघ्र ही ये केलि घर में पहुँचाए गए और वहाँ जा कर मुनियों के मन के समान कोमल निर्मल सेज पर स्थित हो अपने चिरकालीन वियोग से संतप्त हृदय को शीतल करने का उपाय करने लगे।

लज्जा से चंचल अतुल प्रेम के भार से मुग्ध गाढ़ उत्कण्ठावाले, रतिरस के वश हुए। कौतुक से कम्पित चित्तवाले इस नवयुगल के मुख पर मुखरख आनन्द से निद्रा लेते हुए जब समस्त रात्रि ही बीत

गई तो पूर्व दिशा के कुंकुम भूषण के समान रात्रि रूपी अंगना के विस्मृत लोहित कमल के समान, कामरूपी महाराज के रक्त छत्र के समान, अन्धकार नाशक चक्र के समान और आकाशरूपी स्त्री के मांगल्य कलश के समान मालूम होता हुआ, सूर्य मण्डल आकाश में स्पष्ट रीति से दृष्टिगोचर हो गया।

इस प्रकार श्रीमद् आचार्य गुणभद्राचार्यविरचित संस्कृत जिनदत्त के भावानुवाद में द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ।।२।।

तृतीय सर्ग

अपनी प्यारी विमला के साथ नाना प्रकार की केली क्रीड़ायें करते-करते जब बहुत दिन बीत गये तो एक दिन जिनदत्त अवसर देखकर अपने ससुर से बोले-

''पूज्य! मुझे यहाँ रहते अधिक दिन बीत गये हैं, मेरे माता-पिता मेरे आने की आशा करते होंगे। इसलिए आपसे प्रार्थना है कि मुझे यहाँ से घर जाने की आज्ञा दे कृतार्थ करें।''

जामाता की उक्त प्रार्थना सुन सेठ विमलचन्द्र को यद्यपि बहुत दु:ख हुआ तो भी जिनदत्त का अपने घर जाना उचित समझ उन्होंने कहा-

''प्यारे पुत्र! यद्यपि तुम्हारा वियोग असह्य है। उससे मुझे ही नहीं किन्तु तुम्हारे अन्य सम्बन्धियों को भी दु:ख होगा, इसलिए तुम्हें यहाँ से जाने की आज्ञा देने को चित्त नहीं चाहता तो भी यहाँ अधिक रहने से तुम्हारे माता-पिता के दु:खी होने का डर है, इसलिए तुम्हें रोकना भी अनुचित है।''

ससुर की आज्ञा पाकर जिनदत्त अति प्रसन्न हुए और नियत मिति पर अपने ससुर द्वारा दिये गये दासी-दास, सवारी आदि परिकर से वेष्टित हो घर की तरफ चलने की तैयारियाँ करने लगे। जिनदत्त जिस समय रवाना हुए तो ग्राम के बाहिर उद्यान तक इनके ससुर सासु आदि सम्बन्धी लोग भी आये और वहाँ जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक पूजन कर जब धार्मिक शुभ कार्यों से निवृत्त हो गये

और वहाँ से प्रयाण कराने का समय समीप आया तो विमला के पिता सेठ विमलचन्द्र अपनी पुत्री के सिर में प्यार करके बोले–

''पुत्री विमला! आज तू पिता के घर से अपने पति के घर जा रही है। यहाँ जो कुछ भी तू क्रूरता, दुर्जनता और चपलता आदि दोष करती थी, वे सब तेरे लड़कपन में सम्भाल लिये जाते थे परन्तु तू वधू बनकर जा रही है; इसलिए इन्हें तू सर्वथा छोड़ देना। इनकी तरफ तू कभी अपना चित्त भी मत ले जाना। यदि शिक्षा के अनुसार न चल कर तुमने विपरीत किया तो प्यारी बेटी! तू अपने समस्त कुटुम्बियों के लिये विषबेल के समान दुखदायिनी गिनी जायेगी। तेरे से सुखी होने के बदले तेरे सास–ससुर तुझसे दुःख पावेंगे और तुझे अपने घर का कंटक समझेंगे। इसलिए तू इस बात का अवश्य ध्यान रखना।

तेरे लिये इसके सिवा एक यह भी कर्तव्य है कि जिस प्रकार तेरा पति तुझे रखे, उसी अवस्था में तू सन्तोष रखना। सर्वदा छाया के समान अपने पति की अनुगामिनी होना। जो कुछ तेरा पति कहे, उसे तू अवश्य ही करना। पति के दुःख में दुःख और सुख में सुख मानना, अपने चित्त को कभी बुरी बातों की तरफ मत ले जाना। सर्वदा चित्त पतिभक्ति, जिनपूजन, गुरुसत्कार आदि श्रेष्ठ कार्यों में ही लगाते रहना और धार्मिक कर्तव्य को अपना प्रधान लक्ष्य समझना। ऐसा करने से तू अपने वंश की भूषण पताका के समान प्रशस्त गिनी जायेगी और समस्त कुटुम्बियों की प्रीति भाजन हो सकेगी।''

जब इस प्रकार सेठ विमलचन्द्र अपनी प्यारी पुत्री को शिक्षा दे

चुके तो उसकी पत्नी भी विमला को छाती से चिपकाकर और आँखों में प्रेमाश्रु का पूर भरकर बोली –

''मेरी प्यारी पुत्री! तुझे मैंने छोटे से पाल पोसकर बड़ा किया है और अब तुझे तेरे ससुर के घर भेजे देती हूँ। आज से तेरा जीवन दूसरे ही ढंग का होगा। तू वहाँ जाकर अपने पति के सिवाय हर एक से हास–विलास मत करना। किसी से अधिक बातचीत का अपना लड़कपन प्रकट न करना। अन्य के साथ एक आसन पर मत बैठना। अधिक माला आभूषण आदि की तरफ अपना चित्त न लगाना और अन्य के साथ जहाँ कहीं गमनागमन भी मत करना।

जिस समय अपने पति का मन प्रफुल्लित देखना, उसी समय मान करना और वह भी अधिक देर के लिये न कर अल्पकाल तक ही करना जिससे कि तेरे पति के मन में किसी प्रकार की क्लान्ति न पैदा हो।

हम लोगों के वियोग में तू अधिक दु:खित न होना और यहाँ आने की तरफ अधिक उत्कण्ठा न दिखलाना।

अपने ज्येष्ठ, देवर, सासु–ससुर, दोरानी, जिठानी और ननद प्रभृति में सर्वदा अपनी नम्रता दिखलाना। ऐसा कोई भी असंबद्ध हास्यादिक न करना जिससे कि वे रुष्ट हो जायें और उन्हें दु:ख प्राप्त हो।

तू अपनी सासु को माँ कहकर पुकारना, ससुर को तात कहना और प्राणनाथ (पति) को प्रियेश शब्द से सम्बोधन करना और देवर को सुत कहकर बोलना एवं उन्हें तू उसी प्रकार समझना।

प्यारी बेटी! तू किसी वस्तु के लिये अपनी लालसा प्रकट न

करना। मैं यहाँ से सैकड़ों और हजारों बढ़िया से बढ़िया वस्तुएँ तेरे लिये भेज दिया करूँगी। तू उनसे ही अपना मन सन्तुष्ट रखना।''

जब इस प्रकार सेठ और सेठानी अपनी पुत्री को शिक्षा दे चुके तो जिनदत्त न उन्हें प्रणाम किया और घर लौट जाने के लिये साग्रह प्रार्थना कर अपने नगर की ओर प्रस्थान किया।

जिनदत्त क्रम-क्रम से मार्ग में पड़ाव डालते हुए अपने जन्मस्थान वसन्तपुर आ पहुँचे। इनके आगमन की सूचना पाकर इनके पिता सेठ जीवदेव इन्हें लेने के लिये गाँव के बाहर आये और बड़े ठाठ-बाट से रति सहित कामदेव के समान सुशोभित होनेवाले इनको वधूसहित नगर में प्रवेश कराया।

'विवाह कर वधूसहित जिनदत्त आये हैं।' यह समाचार ज्योंहि नगर में फैला कि नगर की समस्त स्त्रियों में खलबली मच गई। वे जिनदत्त और उसकी वधू को देखने के लिये लालायित हो अपने-अपने कामकाज छोड़ मकानों की छतों पर चढ़ने लगीं। जो स्त्री उस समय भूषण पहन रही थी, वह तो अपने भूषणों को यथास्थान न पहिन यों ही चल दी। जो काजल लगा रही थी, वह उसे नेत्रों में न लगा अन्य स्थल पर ही लगाकर दौड़ पड़ी। जो बच्चे को दूध पिता रही थी, वह उसे पूरा न पिला रोता ही छोड़ भाग चली। जो स्त्रियाँ कौतूहल से इस उत्सव को देख रही थीं, उन्हें अपने तन-बदन की भी सुध न थी। किसी का स्तन खुला था और उसे देखनेवाले हास्यपूर्ण दृष्टि से देख रहे थे। किसी का डोरा टूट जाने से गले का हार ही बिखर गया था और उसकी वह कुछ भी परवाह न कर रही थी, कोई अपने नेत्र कटाक्षों से उसे विद्ध करने का उद्योग कर रही

थी तो कोई उसके रूप वर आसक्त हो मन में काम सन्ताप से संतप्त हो रही थी। कोई यदि उन पर वधुओं को धन्य-धन्य कर रही थी तो कोई उन्हें काम और रति के युग्म की उपमा दे रही थी। कोई यदि जिनदत्त की प्रशंसा करने में तत्पर थी कोई यह चिरंजीविनी हों विघ्नरहित सुख का इस पति के साथ बहुत दिनों तक भोग करे इत्यादि आशीर्वाद पढ़ अपना मन सन्तुष्ट कर रही थी। इस प्रकार स्त्रियों के समुदाय को सर्व प्रकार से आकुलित और वाचाल करते हुए ये वर-वधू अपने घर आये और गोत्र की वृद्धा स्त्रियों द्वारा पूरे गये चौक पर थोड़ी देर बैठकर जिनेन्द्र की पूजा पूर्वक मांगल्य विधि को ग्रहण करते हुए सुख से रहने लगे।

हमारे चरितनायक इस प्रकार सर्वथा गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो गृहस्थ के योग्य क्रियाओं के करने में दत्तचित्त रहने लगे। जिस प्रकार इन्होंने अपने शैशव में विलक्षण और अद्‌भुत क्रीड़ायें कर कुटुम्बियों को प्रसन्न किया था, जिस प्रकार पठनावस्था में शीघ्रता पूर्वक समस्त विद्याओं को उपार्जन कर संसार को चकित किया था, उसी प्रकार युवावस्था में धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों को अव्याहत रीति से पालते हुए इन्होंने लोक में अपना शुभ्र यश विस्तृत कर दिया। यह समय इनके पंचेन्द्रिय विषय भोगने का और उसके साथ यथायोग्य धर्म पालने का था। उसके अनुसार इन्होंने समस्त सुख भोगना शुरु कर दिया और सुख के वर्ष घड़ियों के समान निकल जाते हैं, इस कहावत के अनुसार वे दिन पर दिन निकलने लगे। जो याचक इनके द्वार पर आता, उसे ये इच्छानुसार दान देते। जो महात्मा इनके घर आते, उनका विनयावनत् हो सत्कार करते और जो निर्बल पुरुष इनकी सहायता चाहता, उसे

सर्व प्रकार सहायता देते। ये समय विभाग पूर्वक अपनी नित्य क्रियायें करते। प्रात: काल जिनमन्दिर में जा भगवान पूजा करते, और शास्त्र पढ़ते। मध्याह्न में वहाँ से आकर संयोगिनी को दान देकर स्वयं भोजन करते और भोग सेवन के समय भोगों का सेवन करते।

इस प्रकार परस्पर अव्याघात रूप से तीनों पुरुषार्थों का सेवन करते हुए इनके सुख से दिन व्यतीत हो ही रहे थे कि एक दिन अचानक ही इनके सिर में पीड़ा होने लगी। इस पीड़ा से जब इनका किसी कार्य में मन न लगने लगा तो इनके मित्रों ने इनके विनोदार्थ अधीश पदाति, हस्ति और घोड़ों का परस्पर में युद्ध कराना शुरु किया। यह युद्ध स्पर्धा से किया गया था। इसमें हारनेवाले को जीतनेवाले से बाजी माननी पड़ती थी और कुछ धन आदि भी अर्पण करना पड़ता था। जब इस क्रीड़ा में हमारे चरितनायक का चित्त लग गया और उससे उनकी कुछ प्रसन्नता देखी तो कुछ धन-लंपटी धूर्तों ने जुआ खेलना प्रारम्भ कर दिया और वे लोग ज्यों-ज्यों इनकी अभिरुचि देखते गये, त्यों-त्यों अधिकाधिक खेलते गये।

बुरी बातों में मन बहुत जल्दी लग जाता है और उनके उपदेशक भी जगह-जगह मिल जाया करते हैं, इसलिए जुआरिओं का जुआ देखते-देखते इनका मन भी उसके खेलने में फँस गया। ये भी बाजी पर बाजी लगाने लगे। इनके धन की तो कुछ कमी थी नहीं जो हारते हुए दु:ख होता और ऐसे खिलाड़ी नहीं थे जो जीतकर न हारते इसलिए धीरे-धीरे इन्होंने अपना समस्त धन स्वाहा करना शुरु कर दिया। सौ पचास सैकड़ों दो सैकड़ों या हजार रुपयों की तो क्या

बात इन्होंने अपनी ग्यारह करोड़ मुद्रायें उसी जुए के खेलने में हारकर जुआरियों को दे डाली।

जब कुमार जिनदत्त की आज्ञा से नौकरों पर नौकर आना शुरु हुए और धन खर्च होना प्रारम्भ हुआ तो इनके पिता के खजांचियों को यह बात सहन न हुई। उन्हें इस बात का पूरा पता लग गया कि इतना धन सिवाय किसी दुष्कर्म के अन्य कार्य में इतना जल्दी नहीं खर्च हो सकता, इसलिए और अधिक धन देना उचित न समझा एवं जिनदत्त के आज्ञाकारियों को धन देने की स्पष्ट मनाई कर दी। जब पिता के खजाने से धन मिलना बन्द हो गया और जुआ खेलने का शौक कुछ कम न हुआ तो जिनदत्त ने अपनी स्त्री के खजाने से धन माँगना शुरु कर दिया और उससे आये हुए भी सात करोड़ दीनार हार कर खो दिये।

स्त्री के खजांची ने जब यह बात देखी और कुछ भीतरी हाल मालूम हुआ तो नौकरों को उसने भी धन देने की साफ मनाई कर दी। अब तो जिनदत्त के याचकों को गहरी चोट लगी। जब पिता के खजांची ने मनाई कर दी थी, तब तो उनकी स्त्री के खजाने से मिलना प्रारम्भ हो गया था, इसलिए कुछ दुःख न हुआ था। और जब स्त्री के खजाने से भी धन का कोरा जवाब मिल गया तो अन्य धनागम की प्राप्ति का कारण न होने से उन्हें बड़ी पीड़ा हुई। उन्होंने आकर अपने आज्ञापक जिनदत्त से कही और उन्होंने ज्योंहि यह समाचार सुना उनका मुख पाले से सताये हुए कमल के समान मुरझा गया। थोड़ी देर पहिले जो द्यूतक्रीड़ा से उनके मुख पर कुछ खुशी और हँसी की रेखायें झलक रही थीं, वे सर्वथा विला गईं और उस पर चिन्ता का गहरा साम्राज्य छा गया।

विद्वता एक न एक दिन अपना अवश्य असर दिखाती है। विद्वान मनुष्य चाहे कैसे भी बुरे व्यसन में फँस जाये, अवश्य ही किसी निमित्त के मिलने से सुधर जाता है। हमारे चरित्रनायक जो द्यूतक्रीड़ारूपी व्यसन में फँस गये थे। जिसके कारण अपने पिता और स्त्री के अपरिमित धन को खो देने से उनके खजांचियों द्वारा आज्ञाभंगपूर्वक अपमानित हुए थे, वे ही अब मानभंग होने के कारण सुधर गये। चिन्ता में व्यस्त होने के कारण उन्होंने द्यूत तो उस समय बन्द कर दिया और इस प्रकार मन में विचारने लगे।

जो लोग अपनी भुजाओं से द्रव्य उपार्जन करते हैं, जिनको उसकी कृपा से सर्वप्रकार के सांसारिक सुख उपलब्ध हैं और जो किसी के मानभंग सूचक शब्दों से कभी प्रतिहत नहीं होते, वे लोग संसार में धन्य हैं, उनका ही जीवन प्रशंसा के योग्य है, उनसे भिन्न जो दूसरे लोगों के द्वारा पैदा किये गये धन से पालते हैं, पुष्ट होते हैं, उनके बराबर हीन निकृष्ट कोई भी नहीं है। वे लोग पग-पग पर तिरस्कृति होते हैं। देखो! कोयल परपुष्ट काक से पुष्ट की जाती है, इसीलिए वह उसने चोचों के घातों से बार-बार कदर्थित होती है। इसके विपरीत सिंह अपने पराक्रम से उपार्जित द्रव्य से बलवान होता है। इसलिए उसे कोई आँख उठाकर भी नहीं देख सकता। मैं अपने उपार्जित द्रव्य से द्यूत न खेल पिता के द्रव्य से खेल रहा था, इसलिए मेरी यह दशा हुई है। मुझे जो खजांची सरीखे क्षुद्र पुरुष से अपमानित होना पड़ा है, उसमें सर्व प्रधान यही कारण है। यदि मैं अपने हाथ से पैदा किये गये द्रव्य से खेल खेलता तो इसकी क्या मजाल? इससे अधिक उच्च अधिकारी भी मुझसे आधी बात भी न कहता और बिना कुछ कहे सुने ही मेरी आज्ञा का पालन करने पर

उतारु हो जाता। परन्तु यह सब कुछ नहीं है, इसीलिए ऐसा यह मौका आया है।

मेरे पिता की यद्यपि यह इच्छा नहीं है। वे मुझसे कुछ द्रव्य उपार्जन नहीं कराना चाहते और इसीलिए उनकी आज्ञा से समस्त मनोरथ पूर्ण भी होते रहते हैं, परन्तु तो भी यह अपमान मेरे मन को अधिक खेदखिन्न कर रहा है। जो लोग उन्नत मनवाले मनस्वी होते हैं। वे जिस प्रकार गुरु पानी का कभी भोग नहीं करते, उसी प्रकार अपने पूर्व पुरुषों द्वारा उपार्जन की गई लक्ष्मी का भी भोग नहीं करते। वे गुरुपत्नी सेवन के समान उसके सेवन करने में भी पाप समझते हैं। सज्जन लोग तो पुत्र आदिक को अपने द्वारा तन, मन से उपार्जन किये गये धन से सर्व प्रकार पोषण करना योग्य बतलाते हैं, उसमें सन्तान का किसी प्रकार पाल पोसकर बड़ा कर देना ही हेतु है। जिस प्रकार नवीन सूर्य के उदय से कमल खिल जाते हैं, उसी प्रकार जिस पुरुष के उत्पन्न होने से उसके सम्यक् चारित्र कुटुम्बियों के मन प्रफुल्लित न हुए, उस मनुष्य का वह जीवन, वह चारित्र किस काम का? उसके कुटुम्बियों को सिवाय दुःख होने के कोई फल नहीं होता। हाय! मैंने द्यूत सरीखे निंद्यकर्म में अपना मन लगा बड़ा ही अनर्थ किया है। इसके बराबर मुझे इस समय कोई भी बुरा कार्य नहीं दिख रहा है। इस कार्य के करने से मैं अपने पिता को किसी प्रकार अपना मुँह दिखलाने योग्य नहीं हूँ।

संसार में एक वे ही लोग तो धन्य हैं और वे ही जीवित समझने के योग्य हैं, जिन्होंने अपने जन्म में कभी भी मानभंग का दुःख नहीं उठाया। जो द्रव्य नियत समय पर मिलता है, आवश्यकता के समय न मिलकर जो दाता की इच्छा से मिलता है, जो बिना याचना

के प्राप्त न होकर याचना से ही प्राप्त होता है, और जो दु:ख पूर्वक यथाकिंचित् मिलता है, वह सब तात्कालिक इच्छा की पूर्ति का कारण न होने से अदत्त (बिना दिए हुए) के समान गिना जाता है। और उसके लेने में चोरी करने के बराबर दु:ख उठाना पड़ता है। जिन लोगों को धन देने का वचन देकर भी धन नहीं दिया जाता, वे लोग सेवक के समान हैं। जिस प्रकार कोई अपने नौकरों के मान अपमान का ख्याल नहीं करता उसी प्रकार उनके भी मानापमान का कोई ध्यान नहीं रखता।

यह मनुष्य संसार में तब ही तक तो प्रशंसनीय है, जब तक सुमेरु पर्वत के शिखर के समान उच्च है और तब ही तक कीर्तिशाली है, जब तक कि यह किसी के सामने अपने दीन वचन नहीं बोलता, किसी चीज की याचना नहीं करता।

बिना धन के इस संसार में अच्छे से अच्छे काम भी शोषित नहीं होते। जिस प्रकार वृद्धा वेश्या चाहे कितना भी गहना पहिन ले और बढ़िया से बढ़िया वस्त्र ओढ़ ले परन्तु यौवन के बिना उसकी कोई भी शोभा नहीं होती। उसी प्रकार निर्धन गृहस्थ चाहे कैसी भी बढ़िया क्रिया करे, धन के बिना वह कभी लोक में प्रशंसित नहीं होता। इसलिए अब मुझे इस मेरे पिता द्वारा उपार्जन किये गये धन से कोई काम नहीं है, वह मुझे ढेले के समान है। मैं कहीं परदेश में जाकर अवश्य ही उत्तम धन पैदा करूँगा। यह जो मेरे साथ मेरी अर्धांगिनी है, उसे तो इसके पिता के घर रख जाऊँगा और मैं तन, मन लगाकर निर्मल निर्दोष लक्ष्मी के उपार्जन करने का उद्योग करूँगा।''

यद्यपि मनस्वी जिनदत्त इस प्रकार के सद्भावों से प्रेरित हो अपने मन की बात मन में ही छिपाकर रहने लगे तो भी उनके वृतान्त का पता इनके पिता को किसी न किसी प्रकार लग गया और उन्होंने इन्हें अपने पास बुला भेजा। पिता की आज्ञानुसार जब जिनदत्त इनके पास आये तो वे इस प्रकार कहने लगे–

''प्यारे पुत्र! यद्यपि तुमने मुझसे कोई बात नहीं कही है तो भी मैंने, जो तुम्हारे साथ कोषाध्यक्ष ने बर्ताव किया है, उसको यथावत् सुन लिया है। उसको सुनकर मैंने सैंकड़ों और हजारों धिक्कारें खजांची को दी हैं, इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं है। मैं तुम्हारे सिर पर हाथ रखकर शपथ खाता हूँ, मैं जो कुछ भी तुमसे कह रहा हूँ, वह अक्षरश: सत्य है। अब तुम खेद छोड़ दो। तुम्हारी इच्छा हो उसे अच्छी तरह पूरी करो। इस धन धान्य आदि सम्पत्ति पर मेरा जो अधिकार तुम समझ रहे हो, वह नाममात्र का है। इस समस्त के तुम्ही अधिकारी हो। तुम्हें जो अच्छा लगे, वह इसका कर सकते हो। मेरे आँखों के तारे लाल! यह समस्त विनोद तुम्हारे सरीखे विद्वान कुलीन पुरुष को शोभित नहीं होता। लक्ष्मी का अच्छा और बुरा दोनों प्रकार से उपयोग हो सकता है परन्तु अच्छा उपयोग करना ही मनुष्य को उचित है। जिन्होंने इसका जुआ आदि में बुरा उपयोग किया है, उन्होंने जो–जो पाप उपार्जित किये हैं जो–जो कष्ट भोगे हैं, उन सबका इतिहास तुम्हें मालूम ही है, उससे यहाँ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए यदि तुम्हें इसका उपयोग करना ही अभीष्ट है तो तुम विशाल जिनेन्द्र भगवान के मंदिर बनाओ, उनमें सुवर्ण, रूप्य और रत्नों की निर्मित मूर्तियाँ स्थापित करो, प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान की गाजे–बाजे के साथ

पूजा करो। श्रावक-श्राविका-मुनि-आर्यिका रूप चारों संघों को यथाविधि दान दो। मुनियों के लिये सिद्धांत, न्याय, साहित्य, व्याकरण आदि विधाओं के शास्त्र लिखा-लिखाकर भेंट में अर्पण करो, कुएँ, बावड़ी, तालाब आदि खुदाओ और विचित्र बाग-बगीचे लगवाओ। इनके करने से तुम्हारी जगद्व्यापिनी कीर्ति होगी, पुण्य प्राप्त होगा और तुम्हारा मन भी रंजित होगा।''

पिता का यह उपदेश यद्यपि यथार्थ और हितकर था तो भी जिस प्रकार मुनि के मन में विलासनी स्त्री का प्रवेश नहीं होता, उसी प्रकार वह पुत्र जिनदत्त के मन में नहीं समाया, उन्होंने अपने विचारों की तरंगों में उस पर कुछ भी ध्यान न दिया। उन्होंने नीचे मुँह कर जो भी सुना उसका पिता को 'हाँ' के रूप में उत्तर दे, टाल दिया और प्रणाम कर वहाँ से उठ सीधे अपनी कान्ता के पास आये।

विमला पित की परिचर्या करने में बड़ी ही चतुर थी, उसे शास्त्रोक्त लौकिक पति के प्रति पत्नी के समान कर्त्तव्य मालूम थे, इसलिए ज्योंहि उसने अपने वासस्थान आये हुए पति को देखा, त्योंहि अथ्युत्थान आदि से यथायोग्य सत्कार किया और उनके मनोगत भाव को समझकर विलास आदि से मन में प्रफुल्लता का संचार करने का उद्योग करने लगी। जब अधिक बातचीत हुई और अपने पति का चित्त उसने यथावत् प्रकृतिस्थ न देखा तो यह सोचकर कि शायद अपने ससुर के घर पहुँचकर ये प्रकृतिस्थ हो जायेंगे, उनसे बोली-

''प्यारे आर्य पुत्र! आज मेरे पिता के घर से आप और मुझे दोनों का शीघ्र बुलाने का समाचार आया है। कहिये! इसमें आपकी क्या सम्मति है? जो उचित समझें वह करें।''

जिनदत्त ने जब अपनी प्यारी के मुख से यह समाचार सुना तो उन्होंने भी अपने अभीष्ट को सिद्ध होता देखा और इसी बहाने 'इसको इसके पिता के घर पहुँचा देना भी हो जायेगा', यह बात सोची तो उन्होंने उत्तर दिया –

''क्या हर्ज है? जैसी तुम्हारी पिता की इच्छा है, वह हमें भी मान्य है।'' इस प्रकार जब उन दोनों पति-पत्नी की सम्मति हो गई तो जिनदत्त ने अपने पिता की सम्मति लेना भी उचित समझा। सेठ जीवदेव ने जब यह बात सुनी तो उन्होंने भी यही सोचकर कि पुत्री वहाँ जाने से ठीक हो जायेगी, आज्ञा दे दी।

पिता की आज्ञा और अपनी इच्छा होने से जिनदत्त पत्नी विमला के साथ चंपापुरी की तरफ रवाना हो गये और यथासमय वहाँ जा पहुँचे।

सेठ विमलचंद्र को जिनदत्त के मन उद्विग्न होने का कारण पहिले से ही मालूम हो चुका था, इसलिए उन्होंने अपने जामाता का बड़ा ही सत्कार किया और स्वागतपूर्वक अपने घर ले जाकर उन्हें प्रीति से ठहराया।

चम्पापुरी में उस समय प्रमद नाम का एक बगीचा था, उसमें विशाल-विशाल काम मन्दिर बने थे। सुन्दर कर्णप्रिय शब्द करनेवाले भ्रमरों के समूह से वेष्टित अनेक तोरण शोभित हो रहे थे, मन्द-मन्द सुगन्धित पवन अपने वेग से कामिनीयों के केशों को चंचल करता था, सुगन्धित पुष्पों के आमोद से कोकिलाएँ मत्त हो गाती थीं, अनेक फलों के भार से वृक्ष नम्र हो रहे थे और क्रीड़ा पर्वत, वापी, बल्ली आदि मन को हरण करनेवाले थे, इसलिए यह उद्यान

उस समय सर्व प्रकार से समस्त इन्द्रियों को सुखदायक मालूम पड़ता था।

हमारे चरित नायक को अपने ससुर के घर आये पाँच ही दिन बीते थे कि ये इसी उद्यान में अपनी कान्ता के साथ क्रीड़ा करने के लिये चल दिये और वहाँ बहुत दूर तक क्रीड़ा करते रहे। इस उद्यान में नाना तरह की वनस्पतियाँ थीं। क्रीड़ा करते-करते इनकी दृष्टि एक वनस्पति पर जा पड़ी। इसमें जो कोई इसे धारण कर ले उसे ही अदृश्य कर देने का गुण था। यह देख सहसा इनके मन में यह कल्पना उठ खड़ी हुई कि-

''यद्यपि मुझे यहाँ किसी प्रकार की कोई तकलीफ नहीं है, सब प्रकार से सब तरह से सुख ही सुख मिल रहे हैं तो भी अपने घर को छोड़ ससुर के घर रहना सर्वथा अनुचित है। और अपने घर भी मानभंग होने से जाने को जी नहीं चाहता।'' यदि मैं कहीं जाने का भी चित्त करूँ तो साथ में इस प्यारी कान्ता को ले जाना उचित नहीं है और यहाँ छोड़ने से यह मेरे वियोग को न सह सकेगी, इसलिए बड़ी कठिन समस्या आ पड़ी है। परन्तु यह सब होते हुए भी मैं अपने धन उपार्जन करने के उद्देश्य को नहीं भूल सकता। इसके सिद्ध करने में मुझे कितनी भी कठिनाईयाँ झेलनी पड़ें, सब मंजूर हैं। इसलिए पूर्वापर विचारने से घर जाने, यहाँ रहने और इसको साथ ले चलने की अपेक्षा यही उत्तम है कि इसको यहाँ ही छोड़ दिया जाये और इस औषधि के प्रभाव से अन्तर्हित हो ही कहीं को चल दिया जाये। जब तक लक्ष्मी मेरे अधनी न होगी, जब तक मैं अधिक धनाढ्य न होऊँगा, तब तक ये भोगे गये विषय विष के समान ही

भयंकर मालूम पड़ेंगे, इसलिए लक्ष्मी को वश करने के लिए समस्त दु:ख सह लेना ही योग्य है।

ज्योंहि यह विचार मनस्वी जिनदत्त ने हृदय में निश्चित किया, त्योंहि उन्होंने वह औषधि ले ली और अपनी शिखा में उसे बांध अन्तर्हित हो कहीं को चल दिये।

जिनदत्त को न आये जब बहुत देर हो गयी और उनके आने की आशा सर्वथा जाती रही तो विमला को बड़ा ही दु:ख हुआ। वह उनके वियोग से व्याकुल हो समस्त दिशाओं-विदिशाओं में आशाभरी दृष्टि से देखने लगी और चक्रवाक से विहीन चक्रवाकी के समान फूट-फूटकर रोते हुए इस प्रकार विलाप करने लगी-

''हाय! मेरे जीवनाधार नाथ! हे मेरे हृदय मन्दिर के आराध्य देव! हा! स्वाभाविक प्रेम के भण्डार आर्यपुत्र! आप कहाँ चले गये। मैंने ऐसा कौन सा अपराध किया, जिससे रुष्ट हो मुझे आपने छोड़ दिया। नहीं! नहीं! आप ऐसे कठोर तो न थे, अवश्य ही इस समय आप मेरे साथ हंसी कर रहे हैं। प्राणनाथ! कृपाकर अब आप शीघ्र ही आईये। बहुत हंसी हो चुकी, अब और अधिक वह नहीं सही जाती। बिना विलम्ब के मुझे अपना मुखचन्द्र दिखा प्रफुल्लित कीजिए। मेरा मन मक्खन के समान कोमल है, वह इस समय आपके विरहरूपी अग्नि से तपाया जा रहा है यदि सर्वथा यह विलीन ही हो गया, तब फिर आपका आना ही किस काम का होगा-आप आकर ही क्या करेंगे? इसलिए प्राणनाथ! आईये, शीघ्र आइये और इस संतप्त करनेवाली विरहाग्नि को अपने संयोगरूपी जल से बुझाकर शीघ्र शान्त कीजिए। हाय! ये वे ही लतायें हैं, वे ही वृक्ष हैं, वे ही

क्रीड़ा पर्वत हैं और वे ही पक्षी हैं, परन्तु केवल मेरे प्राणनाथ ही नहीं हैं, न जाने कहाँ मेरी दृष्टि को धोखा दे चले गये। हे प्रभो! आपको मेरा बड़ा ही स्नेह था, बड़ी ही मुझमें प्रीति थी, मुझे बहुत ही अच्छा मानते थे। किसी कारण वश मेरे रुष्ट हो जाने पर आप सैकड़ों चाटु वचन कहा करते थे। परन्तु हा! आज क्या आप ऐसे स्नेहहीन कठोर हो गये अथवा मुझे दोषपूर्ण समझने लगे जो मेरे बार-बार रोने पर, पछाड़ खा-खाकर गिरने पर भी आपका हृदय नहीं पसीजता। उसमें स्नेह की तरंग नहीं उठती जो मुझे और नहीं तो कम से कम एक वचन तक का भी दान नहीं देते। हाय! आज वे आपके चाटुकार, वे आपके विश्रंभ और वे आपके कौशल कहाँ चले गये? आपके बिना मुझे अपना कोई नहीं दिख रहा है, आप मुझको समय-समय पर धैर्य दिलाते थे, आप मेरे मन कुसुम को विकसित करते थे। परन्तु अब आपके यहाँ न रहने से मैं रात्रि में सूर्य के बिना कमलिनी के समान शोकग्रस्त हो गई हूँ। मुझे प्रफुल्लित करनेवाला अब कोई भी नहीं है। न जाने मेरा वह आपके साथ संयोगवाला शुभदिन कब होगा? नहीं, नहीं! मैं भूल रही हूँ! मैं जो कुछ भी इस समय कह गई हूँ, सब मिथ्या है, हाँ! मैं बड़ी ही मूर्खा हूँ, मैं अपने पाप को और भी अपने पति की स्नेहहीन आदि शब्दों से निन्दा कर बढ़ा रही हूँ। नहीं! मेरे पति मेरे सर्वगुण सम्पन्न प्राणनाथ कभी ऐसे नहीं हैं और न हो सकते हैं, वे बड़े ही दयालु हैं, मुझे स्वयं कभी नहीं छोड़ सकते और न इस प्रकार दुःखित अवस्था में ही मुझे देख सकते हैं। अवश्य ही उन्हें किसी न किसी ने हर लिया है और वह हरनेवाला कोई नहीं है, मेरा पूर्वकृत कर्म ही है क्योंकि मैंने अवश्य ही पूर्वभव में किसी न किसी परस्पर

अमित प्रेम करनेवाले युगल को वियुक्त किया है, नहीं तो क्या आज मेरी यह दशा होती? जीवों को अपने कृत कर्मानुसार ही फल मिला करता है। यह जो मुझे प्रिय वियोगजन्य दु:ख मिला है, उसमें पूर्व संचित कर्म ही कारण है।

हा! स्त्री पर्याय बड़ी ही खराब है। इसमें महान दु:ख है। इसके समान निंद्य कोई पर्याय नहीं। इसमें मेरा अब कभी जन्म न हो और यदि किसी प्रकार हो ही जाये तो कभी इसमें प्रिय वियोग का अवसर न आवे। संसार में प्रिय वियोग के समान कोई पदार्थ दु:खद नहीं है। इसलिए इसका न होना ही अच्छा है।

अहो वन देवताओं! मुझ पर दया करो। मेरी दीन प्रार्थना की तरफ टुक ध्यान देओ। मुझे पति दर्शन दे मेरा उद्धार करो। मैं शोकसागर में डूबी जा रही हूँ। मेरी इस अवस्था पर क्या आपको करुणा नहीं आती? मेरा इस समय सहायक कोई नहीं है। दीन दुखिया नि:सहाय का सहाय करना आपका कर्तव्य है।''

हमारे चरितनायक की अर्द्धांगिनी विमला जब उनके वियोग में अतिविह्वल हो गई और सखियों के बहुत प्रकार से समझाने पर भी शान्त न हुई तो सखियाँ उसे जिस किसी तरह उसके पिता के पास लायीं और पिता भी समस्त वृत्तांत जानकर, उसे इस प्रकार धैर्यपूर्वक समझाने लगा–

''पुत्री विमला! भाग्य में जो होता है, वही हमारे तुम्हारे सबके भोगने में भी आता है। तुझे इस समय जो पति वियोग का दु:ख भोगना पड़ा है, उसमें तेरा पूर्व कृत अशुभकर्म ही कारण हैं। अशुभकर्म के होने से ही दु:ख उठाने पड़ते हैं। सुख की इच्छा

करनेवालों को अशुभकर्म का नाश और शुभकर्म करना ही श्रेष्ठ है। शोक करने से अशुभकर्म का बन्ध होता है, इसलिए प्यारी पुत्री! तू शोक को सर्वथा छोड़ दे। यदि तेरे भाग्य में होगा तो तुझे फिर पति संयोग मिलेगा। इसलिए इस समय पूर्व अशुभकर्म की शान्ति एवं आगामी शुभकर्म की प्राप्ति के लिये जिनेन्द्र भगवान के मन्दिर में रहकर धर्म उपार्जन कर। श्रेष्ठ-श्रेष्ठ आर्यिकाओं के साथ संगति कर। अपनी सखियों के साथ धर्म की चर्चा करना प्रारम्भ कर और पात्रदान आदि भी किया कर। हम लोग तेरे पति की तलाश में हैं, यदि वे कहीं मिल जायेंगे तो अवश्य ही उनका तेरे साथ संयोग होगा।''

पिता विमलचन्द्र का जब पुत्री विमला ने यह सांत्वना भरा उपदेश सुना और उसकी यथार्थता समझी तो जिस किसी तरह धैर्य धारण किया और जिनपूजा, शास्त्रपठन, सदुपदेशश्रवण, वैय्यावृत्यकरण आदि शुभ क्रियाओं में अपना चित्त लगाकर रहने लगी।

हमारे चरितनायक औषधि के प्रभाव से अदृश्य हो चलते-चलते दधिपुर नामक नगर पहुँचे और वहाँ एक बाहिर के विशाल बगीचे में जाकर ठहर गये। यह बगीचा फल पुष्पों से हरा भरा न था, इसमें यद्यपि जलसेक आदि के चिह्न दिखलाई पड़ रहे थे, तो भी केवल वृक्षों के रुंडमात्र ही खड़े थे। जब यह सब चरित्र जिनदत्त ने देखा तो ये उसकी इस दशा के कारण का विचार करने लगे और अपनी ऊहापोह से अपनी शंकाओं का उत्तर अपने आप देते हुए वास्तविक तत्त्व को जानने की चेष्टा करने लगे।

जिस समय ये इस बात का निश्चय कर रहे थे, उसी समय कुछ पदाति (प्यादे) लोगों से वेष्टित जंपान (एक सवारी का नाम है) में बैठा हुआ एक समुद्र नाम का धनाढ्य वैश्य वहाँ आया और इनकी कांति तथा चेष्टा आदि से महा विद्वान समझ इन्हें वासस्थान का परिचय पूछने लगा। उत्तर में जिनदत्त ने ''महाभाग! मैं यों ही पृथ्वी पर इधर-उधर घूमता फिरता हूँ। मेरे यहाँ आने का सिवाय देशाटन के कोई प्रधान कारण नहीं है।'' आदि कहकर कुशलक्षेम और उसके बाद सेठ समुद्र के उस बाग को हरे-भरे हो जाने का कारण पूछा पर जिनदत्त ने उत्तर दिया-

''यदि मुझे मेरे कथनानुसार समग्र सामग्री उपस्थित की जाये तो इस बाग को नन्दन वन के समान हरा भरा फल पुष्पों से युक्त कर सकता हूँ।

सेठ समुद्र ने जब इस प्रकार साहस भरी जिनदत्त की बात सुनी तो उसने उनकी बताई हुई समस्त सामग्री शीघ्र ही अपने भृत्यों से उपस्थित करा दी। यह देख जिनदत्त ने भी दोहदादिक उपायों से उस उद्यान को हरा भरा कर दिया। उसमें पहिले जो अशोक वृक्ष सूखे खड़े थे। अब कामिनी स्त्रियों के पादताडन से उत्पन्न पुलकों के समान गुच्छों से शोभित जान पड़ने लगे। जो बाण वृक्ष रुंड मात्र खड़े थे, वे कामदेव के बाण के समान पति वियुक्त स्त्रियों के मन को भेदनेवाले पुष्प और पुंखों से युक्त हो गये। जो तिलक वृक्ष पहिले नाम मात्र के ही तिलक थे, वे अब पुंश्चली स्त्रियों के कटाक्ष बाणों से आहात हो पुष्पों से युक्त होने के कारण वास्तव में वन लक्ष्मी के तिलक हो गये। जो कुरबक पहिले वास्तव में कुत्सिव रव करनेवाले (पुष्प न होने से भद्दे लगनेवाले) थे, वे ही अब स्त्रियों के

स्तन संसर्ग से आहत हो पुष्पित होने के कारण गुंजारते हुए भ्रमरों के शब्दों से सुरवक-सु-सुंदर रवक-शब्दवाले हो गये। जो वकुल वृक्ष पहिले बिल्कुल शुष्क (नीरस) थे, वे ही अब प्रमदाओं द्वारा किये गये मद के कुल्लों से सिक्त हो कुसुमों की सुगन्धि से पूर्व पीत मद को उगलते हुए के समान जान पड़ने लगे। जो चम्पक वृक्ष पहिले रुंड मुंड खड़े थे, वे पुष्पों से युक्त होने के कारण प्रवेश करते हुए काम के स्वागतार्थ उजाले गये मंगल दीपों के समान शोभित होने लगे। जो कुंकुम वृक्ष पहिले अशुचिता से उत्पन्न होने के कारण अस्पृश्य थे, वे ही पुष्पों से सुगंधित हो जाने के कारण खल के समान मस्तकों पर अपना दखल जमाने लगे और इसी प्रकार अन्य बहुत से जो वृक्ष पहिले खराब हालत में थे, वे ही जिनदत्त द्वारा अपने-अपने योग्य आदि कारणों के मिल जाने से प्रफुल्लित हो गये।

जिनदत्त के द्वारा इस प्रकार जब वह उद्यान फल और पुष्पों से शोभित कर दिया गया तो वहाँ आ-आकर सुन्दर पक्षीगण किलोल करने लगे। आम की कलियों के भक्षण करने से मत्त हुई कोकिलायें मधुर-मधुर शब्द करने लगीं। सुगन्धित पुष्पों की सुगन्धि से भ्रमर सुखकारी मोदवर्धक गुंजार करने लगे। माधवी लताओं के मण्डप में कामी लोग क्रीड़ा करने लगे। नागवल्ली के आलिंगन करने से सुपारी के वृक्ष सफल जान पड़ने लगे। आकाश से देखने के लिये पृथ्वी पर अवतीर्ण हुई किन्नरियों के गीतों से मृगगण स्तब्ध हो दुर्वाभक्षण छोड़ स्तब्ध होने लगे। लताओं के भीतर शक और सारिकायें बोलने लगीं। अपने-अपने संकेत बांध अभिसारिकायें आने लगीं। वृक्षों के नीचे तपस्वियों को ध्यान में मग्न देख खेचर, भूचर और अमरगण एकत्र होने लगे। अधिक फलों के भार से

झुक-झुक कर वृक्षों की डालियाँ टूटने लगीं और रति के श्रमण को हरण करनेवाली सुन्दर पवन बहने लगी।

जब समस्त मनोहारी उद्यान के योग्य इस प्रकार वह उद्यान हो गया तो सेठ समुद्र को अति आनन्द हुआ। उसने उसकी प्रसन्नता में एक चैत्रोत्सव कराया और जिनदत्त का उसमें सद्वस्त्र भूषण आदि से महा सत्कार कर उपस्थित लोगों को परिचय कराया जिससे कि उनकी वहाँ राजा आदि प्रधान पुरुषों में बहुत कीर्ति हुई।

जिनदत्त के गुणों पर मुग्ध हो उद्यान के अधिपति सेठ समुद्र इन्हें अपने घर ले गये और उन्हें वहीं रखने लगे। जिनदत्त को रहते-रहते वहाँ जब कुछ दिन बीत गये तो सहसा इनके मन में फिर वह ही विचार उठ आया और सोचने लगे-

''नहीं! मुझे इस सेठ के घर में रहना बिल्कुल उचित नहीं है। मैं जिस उद्देश्य से परदेश भ्रमण कर रहा हूँ, वह अभी पूरा नहीं हुआ है। अभिसारिका के समान चंचल लक्ष्मी अभी तक मेरे वश में नहीं हुई है, और इसका वश करना मेरा प्रधान कर्तव्य है, क्योंकि इसके बिना मनुष्य के धर्म, काम और अर्थ तीनों पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हो सकते। न तो इसके बिना दान दे धर्म ही उपार्जन कर सकते हैं, न इसके बिना अभीष्ट पदार्थों का संग्रह कर काम ही सिद्ध हो सकता है और न इसके बिना किसी तरह का व्यवसाय कर अर्थ ही उपार्जन कर सकते हैं। इसलिए सबसे पहिले पुरुषार्थों के मूलभूत धन का पैदा करना ही कार्यकारी है।''

समुद्र सेठ ने जब जिनदत्त के उक्त प्रकार वचन सुने तो उसने कहा-''महाभाग! यदि आपकी धन उपार्जन करने की इच्छा है तो

मेरे साथ क्यों न चलियेगा। मैं भी सिंहल द्वीप विचित्र-विचित्र भाड़ों को ले शीघ्र ही जाना चाहता हूँ।'' जिसे सुनकर जिनदत्त ने स्वीकार कर लिया और दोनों जनें बहुत से आदमियों के साथ सिंहलद्वीप की ओर रवाना हो गये।

इस प्रकार श्रीमद्-आचार्य गुणभद्राचार्यविरचित संस्कृत जिनदत्त चरित्र के भावानुवाद में तृतीय सर्ग समाप्त हुआ।।३।।

चतुर्थ सर्ग

सेठ समुद्रदत्त और हमारे चरितनायक जिनदत्त व्यापार करने की तीव्र इच्छा से सिंहलद्वीप की तरफ रवाना हो क्रमशः समुद्र तट भूमि पर पहुँचे और वहाँ से शुभ मुहूर्त शुभ दिन में जिनेन्द्र भगवान की पूजा आदि कर उन्होंने जहाज द्वारा यात्रा करनी प्रारंभ कर दी।

जिस दिन हमारे इन दोनों व्यापारियों ने समुद्र यात्रा प्रारम्भ की, भाग्य वश उसी दिन से हवा इनके अनुकूल बहने लगी। जिससे कि ये अपने समस्त धन धान्य के साथ सुरक्षित रीति से शीघ्र ही सिंहलद्वीप जा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर इन्होंने अपने साथ के मनुष्यों को यथायोग्य स्थान पर भीतर और बाहिर ठहरा दिया एवं कुमार जिनदत्त सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म के गाढ़ भक्त होने के कारण एक श्राविका सम आचरणवाली वृद्धा के घर ठहर गये और इनके कथनानुसार ही उसके यहाँ खान-पान की समस्त व्यवस्था होने लगी।

जिस नगर में जाकर ये लोग ठहरे थे और जहाँ इन्होंने माल भांड बेचना चाहा था, वहाँ का राजा मेघवान था। इसकी विजया नामक एक रानी थी और उससे श्रीमती नाम की एक पुत्री उत्पन्न हुई थी।

राजपुत्री श्रीमती उस समय युवावस्था के प्रारम्भ में पैर रख चुकी थी, इसका रूप बड़ा ही सुन्दर और सौम्य था परन्तु जिस प्रकार चन्द्रमा अल्प कलंक से दूषित होने के कारण निन्दनीय गिना जाता है, उसी प्रकार यह भी एक रोग से आक्रान्त होने के कारण

लोगों को भयंकर मालूम पड़ती थी और वह रोग यह था कि जो कोई मनुष्य इसके समीप होता था, वह ही यमराज के घर का अतिथि बन जाता था। पुत्री की यह अवस्था देख घर के सब माता-पिता आदिक इससे विरक्त हो चुके थे। इसलिए इन्होंने इसे दूर एक अन्य सुन्दर महल में रख छोड़ा था एवं नगरवासियों से यह सादर प्रार्थना कर ली थी कि -

'हे प्रजा! मेरे पूर्व जन्म के पाप से एक पुत्री हुई है और वह भयानक रोग से आक्रान्त है, इसलिए जब तक कोई उपयुक्त वैद्य न आ पावे, तब तक कृपाकर हर एक घर से एक-एक आदमी आवे और मेरी पुत्री के घर में आकर रहे।' जिससे कि समस्त प्रजा अपने-अपने घर से एक-एक आदमी बारी-बारी भेज दिया करती थी। इसी नियम के अनुसार जिस समय कुमार जिनदत्त वृद्धा के पास बैठे थे, उसी समय एक नापित आया और वृद्धा को लक्ष्य कर कहने लगा-

'वृद्धे! राजाज्ञानुसार तुम्हारे पुत्र की आज बारी है। उसे यथासमय तुम राजपुत्री के घर भेज देना।'

नापित के मुख से ज्योंहि यह वचन वृद्धा ने सुना तो वह सन्न रह गई। उसने फूट-फूटकर रोना शुरु किया। उसे जिस प्रकार आंगन की पृथ्वी के कण चुगनेवाले पक्षियों को दु:ख होता है, उसी प्रकार चित्त में महादु:ख हुआ। वह बिलख-बिलख कर इस प्रकार विलाप करने लगी-

'हाय! मैं बड़ी ही मन्दभागिनी हूँ। छोटी अवस्था में ही पति मर जाने से मैंने जो-जो दु:ख सहे हैं, उनकी याद करते ही छाती फटती

है। मेरी समस्त ऐहिक सुख प्राप्ति की आशा तो उसी दिन से नष्ट हो गयी। परन्तु ज्यों-त्यों करके मेरे जो इकलौता पुत्र है, उसी के मुख को देख-देखकर अपने जीवन को किसी प्रकार सुखी समझ दिन बिता रही हूँ। मालूम पड़ता है, अब वह बात भी मेरे देव को असह्य है। उसे इतना सुख देना भी मेरे लिए अनिष्ट है, इसीलिए आज मेरे पुत्र को हरण करने के लिये नाई द्वारा आज्ञा भिजवाई है। हा! मेरे आँखों के तारे! मेरे जीवन के सितारे! मेरे प्यारे लाल! अब मैं तेरे बिना कैसे जीवित रह सकूँगी। हा! हत्यारे देव! क्या मुझे दिन को दिखलाने के लिये तूने इतने दिन तक जीवित रख छोड़ा था?'

वृद्धा के इस प्रकार करुणा भरे वचनों को सुनकर कुमार जिनदत्त का हृदय भर आया। वे करुणा रस से पूरित होकर बोले-

'माँ! मैं तेरे समस्त दु:खों को दूर कर सकता हूँ। मैं विपत्तियों के नाश करने में सब प्रकार से समर्थ हूँ। तू अपने उसी एक पुत्र को पुत्र न समझ, जैसे वह पुत्र है वैसा ही मैं भी तेरा एक पुत्र हूँ। माँ! जिस पुत्र के भेजने का समाचार सुन तू इतनी दु:खित हुई है। उसे तू मत भेज। उसके भेजने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं ही वहाँ चला जाऊँगा और राजाज्ञा का पालन करनेवाली तुझे बनाऊँगा।'

जिनदत्त के ये परोपकार परिपूर्ण वचन जब उस बुढ़िया ने सुने तो वह बोली-

'बेटा! वह और तुम दोनों ही मेरे पुत्र हो। जिस प्रकार मनुष्य को दायीं और बायीं दोनों आँखें प्रिय होती हैं। उसी प्रकार मुझे तुम दोनों ही बराबर प्रिय हो। मैं तुममें से किसका नाश चाह सकती हूँ। बल्कि तुममें यह विशेषता है कि तुम मेरे पुत्र से अधिक काम के

समान सुन्दर हो, महागुणी कुल के भूषण हो, इसलिए तुम्हारा तो अपने प्राण गँवा कर भी मुझे जिलाना इष्ट है।'

वृद्धा के उपर्युक्त वचनों को श्रवणकर हमारे ओजस्वी चरितनायक के हृदय में किसी प्रकार निम्न भाव नहीं आया। किंतु वे अधिक उस बुढ़िया के दु:ख दूर करने के लिये सन्नद्ध हो गये और अपने मन में इस प्रकार के भाव प्रकट करने लगे–

''संसार में उसी पुरुष का जन्म लेना सार्थक है, वही वास्तव में मनुष्य पर्याय का श्रेष्ठ फल प्राप्त करता है जो कि विपत्तियों से विपन्न लोगों का उद्धार कर उन्हें सुख से सम्पन्न कर देता है। इसके सिवा जो लोग अपना ही अपना स्वार्थ साधा करते हैं, अपने सुख में सुखी और दु:ख में दु:खी होते हैं, अन्य लोगों के सुख–दु:ख की कुछ परवाह नहीं करते, वे नहीं जन्मे के समान हैं। उनकी पैदायश से संसार को कोई लाभ नहीं। देखो! वृक्ष जो कि एकेन्द्रिय महा अल्पज्ञानी हैं, वे भी जब अपने फलों से और छाया से अपने पास हुए पथिकों को उपकार करते हैं, उन्हें फल, पुष्प और छाया दे सुखी बनाते हैं, तब जो मनुष्य पंचेन्द्रिय उनकी अपेक्षा महाज्ञानी हैं, उन्हें क्या परोपकार सरीखा श्रेष्ठ कार्य करना न चाहिए। उन्हें उसके करने में क्या प्रयत्नशील न होना चाहिए? यदि दूसरे का हित होता हो और उसमें अपने प्राणों के जाने की भी संभावना हो तो उसे खुशी से कर डालना चाहिए। परोपकार की दीक्षा से दीक्षित हो यदि उसके पालने में प्राण तक भी चले जायें तो कोई डर नहीं। उसे भंग न होने देना चाहिए। चन्दन में यह एक आश्चर्यजनक गुण है। वह स्वयं जलकर दिशाओं को सुगन्धित कर देता है और अपने परोपकारित्व का ज्वलन्त उदाहरण लोगों को देकर भस्म हो जाता

है। इसलिए जो मैं पहिले वृद्धा को वचन दे चुका हूँ, जो उसके दु:ख दूर करने की अटल प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, उससे मुझे कभी विचलित न होना चाहिए। अवश्य ही इस दु:खिनी वृद्धा का दु:ख दूर कर देना मेरा कर्त्तव्य है।''

इन विचारों को विचारते-विचारते जिनदत्त के हृदय में एक अपूर्व ही आनन्द की तरंग उठी, वे बुढ़िया से बार-बार आग्रह करने लगे और आखिर उससे अपनी वहाँ जाने की स्वीकारता ले ही ली।

बुढ़िया की सम्मति पाकर जिनदत्त ने स्नान किया, सुगन्धित द्रव्य से शरीर का लेप किया, समस्त भूषण पहिने और पुष्प, तांबूल, वस्त्र, गन्ध आदि से सन्नद्ध हो चलने की तैयारियाँ करने लगे। चलते समय साथ में इन्होंने शस्त्र लेना भी योग्य समझा। वसुनन्द और कृपाण इन दो शस्त्रों को दोनों हाथों में ले राजपुत्री के महल की ओर चल दिये।

वीर वेश में सज-धजकर राजमार्ग से जाते हुए युवा जिनदत्त साक्षात् विजयाभिलाषी काम सरीखे जान पड़ने लगे। जो पुरुष इनकी तरफ दृष्टि डालता था, वही गहरे आश्चर्य सागर में डुबकी लगाने लगता था। जो स्त्री इनकी तरफ देखती थी, वह ही इनके सौन्दर्य और गमन पर आश्चर्यान्वित हो जाती थी। चलते-चलते हमारे युवक राजमन्दिर के पास पहुँच गये। जब इन्हें राजा ने देखा तो वह पास में बैठे हुए लोगों से इनका समस्त परिचय 'कहाँ से आया है कौन है, कहाँ को जा रहा है?' आदि पाकर बड़ा ही दु:खित हुआ। उसके हृदय में उस समय गहरी चोट लगी। वह अपने

उस दुष्कृत्य को बार-बार धिक्कारने लगा और सोचने लगा-

''हाय! मुझ सरीखे नीच पापी पुरुषों का जीना इस संसार में बड़ा ही निकृष्ट है। मैं राजा नहीं कसाई हूँ। मैंने अपनी पुत्री के छल से इस जगह कालरात्रि बनवा रखी है। हाँ! इसमें आकर प्रतिदिन संसार के श्रेष्ठ-श्रेष्ठ पुरुष अपना जीवन सर्वस्व खो देते हैं। अरे! यह मनुष्य पर्याय बड़ी ही चंचल है। इसकी आयु बहुत ही कम है। देखो! इस समय सबके मन को मोहनेवाला यह युवा जो दीख रहा है, वह ही आज रात्रि में काल के गाल में पहुँचकर सर्वदा के लिये आँखों से ओझल हो जायेगा।

राज्य के लोग प्रशंसा करते हैं परन्तु मुझ सरीखे पापकर्मियों को वह सर्वथा निन्दनीय है, मैं बड़ा ही अन्यायी हूँ। अपराध होने से दण्ड देना लोगों को उचित है परन्तु मैं बिना ही अपराध के प्रतिदिन एक मनुष्य को काल के गाल में पहुँचा देता हूँ।

ऐई महाभाग! तू अपनी आकृति से कोई विशेष पुण्यशाली मालूम पड़ रहा है। तू अपने ही प्रभाव से अपनी रक्षा करना। तुझ सरीखे संसार में बहुत कम मनुष्य पाये जाते हैं। अतएव तेरे लिये यह कोई बड़ी बात नहीं।''

जिनदत्त को देखकर राजा इस प्रकार का विचार कर ही रहा था कि कुमार अपनी गति से पृथ्वी को चल-विचल करते हुए राजकुमारी के महल तक जा पहुँचे और प्राणियों को भय करनेवाले उस मकान के पहले मंजिल पर देखते-देखते चढ़ गये।

कुमार ने पहले मंजिल पर चढ़ उसकी समस्त दिशा-विदिशाओं में देखा। वहाँ जब उन्हें कुछ न दिखा तो वे उसके दूसरे मंजिल पर

चढ़े और वहाँ सुन्दर सेज पर बैठी हुई एक कुमारी को देखा। यह कुमारी खेदखिन्न चित्तवाली थी। इसके नेत्र विस्तृत किन्तु विषादयुक्त थे और द्वार की तरफ किसी के आगमन की आशा कर देख रही थी। कुमार ने जब इसे देखा तो उन्होंने आकृति से इसे राजपुत्री समझा और इसलिए इसके पास की शय्या पर बैठकर बातचीत करने लगे। राजकुमारी ने जब इन्हें सुचतुर और मनोहर पाया तो तांबूल आदि से इनका आदर सत्कार किया और रात्रि बिताने की इच्छा से कथा पूछी। कुमार ने राजकुमारी के प्रश्नानुसार सुनने में मनोहरी कथा कहना प्रारंभ किया। अधिक रात्रि हो जाने से कथा सुनते-सुनते जब राजपुत्री सो गई और हुंकार देना बन्द कर दिया तो जिनदत्त अपने आसन से उठे एवं 'न जाने क्या कारण है जो इसके समीप सोने से मनुष्य काल के गाल में फँस जाते हैं? क्या यह पूतना है या किसी राक्षस का यह काम है? या अन्य ही कुछ कारण है? इसकी वास्तविकता जानने के लिये मुझे यहाँ आज जागते रहना चाहिए। क्योंकि जो सो जाते हैं, उन पर चोरों का आक्रमण होता है, जीते जागते को कोई नहीं अकस्मात लूट सकता।' यह विचार कर महल की छत पर गये और वहाँ से एक मुदे को उठा लाकर अपनी जगह कपड़े से ढककर सुला दिया तथा स्वयं दीपक की छाया में खम्भे से छिपकर हाथ में तलवार ले सावधान हो बैठ गये।

जिनदत्त इस प्रकार सावधान हो चारों तरफ दृष्टि दौड़ा-दौड़ाकर देखते रहते थे कि थोड़ी देर बाद राजपुत्री के मुख से एकसाथ निकलती हुई दो जीभें दिखलाई दीं। ये जीभें जलती हुई अग्नि के समान जाज्वल्यमान थी। इधर-उधर लहरा रही थी और देखनेवाले

को भय करनेवाली थी। ज्योंहि इन दोनों को कुमार ने देखा त्योंहि अपनी शंका समाधान होते देखकर वे मुस्कराये और उत्सुकतापूर्वक सावधानी से उसे देखने लगे। उन दोनों जीभों के बाद एक फन निकला। फन के बाद कालदण्ड के समान भयंकर लम्बायमान शरीर निकला। समस्त शरीर निकल आने के बाद वह सर्प कुमारी की शय्या से उतरकर पास की शय्या पर गया और वहाँ पड़े हुए मुर्दे को अपने तीक्ष्ण दाँतों से काटने लगा। सर्प के इस व्यापार से चकित हो जिनदत्त शीघ्र ही उसके पास आये और अपने हाथ की तलवार से दयारहित हो उसके आठ टुकड़े कर डाले। इसके बाद कुमार ने कुमारी को जो पेटी थी, उसमें तो उन साँप के टुकड़ों को रख दिया। मुर्दे को दूर हटा अपनी तलवार म्यान में बन्द कर ली और स्वयं सुखपूर्वक निश्चिन्त हो गये।

कुमारी की जब व्याधि दूर हो गयी तो वह भी सुखपूर्वक निश्चिन्तता से खूब सोई। उसने प्रात:काल शीतल मन्द सुगन्धित पवन से आहत हो आँखें खोली और अपने हल्के शरीर तथा कृश हुए पेट को देखकर सोचने लगी–

''अहा! मेरे इस शरीर के सुखी होने का क्या कारण है? मेरा पेट आज मुझे बहुत ही हल्का मालूम पड़ता है। उत्साह भी आज अन्य दिनों से अधिक है। वास्तव में मुझे अपनी व्याधि आज नष्ट हुई मालूम पड़ती है, इस व्याधि ने मुझे बड़ा ही दु:ख दिया। हाय, इसके कारण मैं अपने कुटुम्बियों से अलग की गयी। इसके कारण ही मैं इतने मनुष्यों के प्राण लेने की निमित्त हुई। परन्तु आज बड़े हर्ष की बात है कि वह सर्वनाशिनी व्याधि इस महापुरुष के दर्शन मात्र से चली गयी। अहा! इस संसार में यद्यपि शकल–सूरत में सब

मनुष्य प्राय: एक से दिखते हैं, परन्तु उनमें गुणी परोपकारी विरले ही होते हैं। जिस प्रकार समस्त ग्रह एक से हैं परन्तु उनमें जो सूरज की महिमा है, वह किसी की नहीं है। उसी प्रकार मनुष्य भी एक से हैं, परन्तु जो परोपकारी हैं, वे ही प्रशंसा के भाजन हैं। इस महात्मा के दर्शन से जिस प्रकार मेरे हृदय सरोवर में आनन्द की तरंग उठी थी, उसी प्रकार रात्रिभर सहवास रहने से मैं अमृतपुर से अभिषिक्त हो गयी। आज मेरा बड़ा ही शुभ भाग्य का उदय हुआ है।''

इसके बाद राजकुमार ने अपनी निरोगता से प्रसन्न हो लज्जा भरी दृष्टि से हाथ जोड़कर पूछा–

''स्वामिन्! यद्यपि मैं समझती हूँ कि वह सब निरोगता आदि आपकी कृपा का ही फल है तो भी रात्रि में जो कुछ वृत्तांत हुआ हो, उसे सुना मुझे कृतार्थ कीजिए।''

राजपुत्री का यह प्रश्न सुन कुमार ने रात्रि में जो कुछ हुआ था, उसके विश्वास के वास्ते उसे अपने गहने की पिटारी खोलकर देखने को कहा। ज्योंहि पुत्री ने पिटारी खोली तो वह सर्प देखकर 'सांप, सांप' कहकर दूर भागी। वह देखकर कुमार ने उसका भ्रम दूर किया और रात्रि में जो कुछ वृत्तान्त हुआ था, वह सब कह सुनाया।

जिनदत्त राजपुत्री को रात्रि का वृत्तान्त सुना ही रहे थे कि इसी बीच में महल का अध्यक्ष वृत्तान्त जानने के लिये आया और इनका समस्त समाचार जाकर उसने राजा से निवेदन कर दिया।

अध्यक्ष के मुख से राजा ने जब अपनी पुत्री की कुशल पा ली और जिनदत्त को भी जीता जागता सुन लिया तो वह शीघ्र ही हाथी पर चढ़कर कुछ आदमियों के साथ आया। राजा को अपने पास

आता देख उसके सत्कार के लिए जिनदत्त उठे और राजा भी उन्हें सम्मान की दृष्टि से देख पास ही बैठ गया।

व्याधि के चले जाने से कुमारी की आभा एक अपूर्व ही तरह की हो गयी थी। उसके चेहरे पर पहिले जो उदासी छाई रहती थी, वह अब सर्वथा किनारा कर गयी। उसके समस्त शरीर में दीप्ति छटकने लग गयी थी। राजा ने ज्योंहि अपनी पुत्री को उस अवस्था में देखा उसके नेत्र देखते-देखते तृप्त न हो सके। कौतुक से पूर्ण हो उसने समस्त हाल जानने की इच्छा प्रकट की और कुमारी ने शीघ्रतापूर्वक जो कुछ हाल कुमार से उसे मालूम हुआ था, वह कह सुनाया।

कुमारी के मुख से समस्त वृत्तान्त जानकर राजा को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उसने आनन्द से पुलकित हो इस प्रकार सोचा-

''अहो! संसार में भाग्य बड़ा प्रबल है। उसकी गति का कोई पार नहीं पा सकता। कहाँ का रहनेवाला तो यह कुमार! और कहाँ की रहनेवाली यह पुत्री? परन्तु इन दोनों का इसी तरह से संयोग होनेवाला था। अहा! यह महात्मा धन्य है, इसने मेरा बड़ा भारी उपकार किया है। जो मेरे कुल की कीर्ति में धब्बा लगानेवाली बात थी, जिससे मेरा राज्य कलंकित हो रहा था, वह रोग सर्वथा इसने दूर दिया। इसका प्रत्युपकार सिवा इसके कुछ हो ही नहीं सकता कि मैं इसे अपनी पुत्री दूँ। नहीं! नहीं!! यह इसका प्रत्युपकार नहीं है। माता-पिता का कर्तव्य है कि वे गुणी को अपनी पुत्री दें। इससे अधिक गुणी मुझे कोई नहीं दिख रहा है। तब इसे न देकर दूसरे को पुत्री देना सर्वथा अयोग्य है, इसके सिवा इस मेरी पुत्री की लालसा

भी इस युवा के साथ विवाह करने की मालूम पड़ रही है, देखो! जिस प्रकार अन्य लोगों की दृष्टि इस कुमार के मुख पर पड़ रही है। उससे एक भिन्न विकसित और ईवदाकुंचित इसकी दृष्टि ही इसके मुख की तरफ है। कुछ-कुछ सूक्ष्म पसीने की बूंद भी इसके गण्डस्थल पर चमक रही है। गर्म-गर्म उच्छवासों से इसके अधरपल्लव भी म्लान हो रहे हैं। वाणी के बोलने में स्खलना खासी प्रतीत हो रही है। कम्प रोमांच भी इसके शरीर में उत्पन्न हो रहे हैं, यह असावधानता भी अपनी प्रकट कर रही है, जिससे कि कुमार में इसका मन है, यह स्पष्ट मालूम हो रहा है। इसके सिवा इसकी सखियों में भी इस बात की यथेष्ट चर्चा हो रही है, इसलिए भी कुमार में इसके आसक्त होने की दृढ़ता मालूम पड़ती है। अस्तु! चाहे जो कुछ हो। जैसा मैंने अपने मन में विचारा था, वैसा ही यह वर मेरी पुत्री के पुण्य से आकृष्ट हो यहाँ आ गया है। इसे अब कन्या दे देना ही उचित है। इस सम्बन्ध से मेरा इसके साथ सम्बन्ध भी दृढ़ हो जायेगा अथवा इसमें मेरा कुछ कर्तव्य ही नहीं है। विचित्र विचित्र पदार्थों के संयोग करानेवाले भाग्य ने ही सम्बन्ध रचा और वह ही इस विवाह विधि को भी पूरा करेगा क्योंकि सबका कर्ता धर्ता विधि ही है, मनुष्य तो केवल उसमें साक्षी के बतौर पड़ जाता है।''

राजा मेघवाहन ने इस प्रकार ऊहापोहकर अपने मन्तव्य स्थिर कर लिया और अपनी पुत्री का शुभ मुहूर्त में कुमार जिनदत्त के साथ विवाह कर गुणज्ञता का परिचय दिया।

कुमार जिनदत्त, राजा मेघवाहन के अत्याग्रह से उसकी पुत्री श्रीमती से विवाह कर पंचेन्द्रियों के सुख भोगने लगे और वह पुत्री भी छाया के समान इनकी आज्ञानुवर्तिनी हो रहने लगी।

कुमार जिनदत्त जैनधर्म के प्रबल पण्डित थे। इन्होंने समस्त शास्त्रों के साथ-साथ जैन शास्त्रों का भी खास ज्ञान प्राप्त किया था और इन्हें उन पर श्रद्धान भी खूब अटल था। भला वे कैसे अपनी अर्धांगिनी को अपने से भिन्न धर्मावलम्बिनी देख सकते थे। इन्होंने उसे भी सर्वज्ञप्रणीत धर्म से संस्कार करना चाहा, इसलिए मिथ्यात्व के त्यागपूर्वक वे उसे वास्तविक धर्म का इस प्रकार उपदेश देने लगे-

''प्यारी! संसार में इस जीव का जितना अहित विपरीत पदार्थों के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण से होता है, उतना किसी से भी नहीं होता, इसलिए सबसे पहले इसका त्यागना और वास्तविक पदार्थों का ज्ञान-श्रद्धान-आचरण करना ही श्रेयस्कर है। जो देव नहीं, उन्हें देव मानना; जो गुरु के गुणों से रहित हैं, उन्हें गुरु स्वीकार करना और जो तत्त्व नहीं है, उन्हें तत्त्व मानना ही मिथ्यात्व है। जो लोग इस मिथ्यात्व से ग्रस्त रहते हैं, देवाधिदेव को देव न मान कुदेवादि को देव मानते हैं, उन्हें इस लोक में ही नहीं किन्तु परलोक में भी दुःख उठाने पड़ते हैं। वे मरकर सातों नरकों में असीम वेदनायें जो भोगते हैं, वे तो भोगते ही हैं परन्तु समस्त संसार में जितने भी दुःख हैं, वे सब भी उन्हें भोगने पड़ते हैं।

समस्त दोषों से रहित, मुक्तिरूपी ललना से स्वयं वरण किये गये, लोक-अलोक के समस्त पदार्थों के जानकर जो देव हैं, वे ही सच्चे देव हैं। उनसे भिन्न राग-द्वेष आदि मल से मलिन कदापि देव नहीं हो सकते, क्योंकि जो विरागी कृतकृत्य और सर्वज्ञ है, वह ही आप्त हो सकता है, अन्य नहीं। इसलिए तू देवताओं में सर्वश्रेष्ठ वीतरागी जिनेन्द्र भगवान को ही देव समझ। उनका ही मन-वचन-

काय से सर्वथा श्रद्धान कर। वे ही चराचर समस्त जगत के ज्ञायक हैं, छोटे से लेकर बड़ों तक सब पर दया करनेवाले हैं और सबके स्वामी हैं।''

उपर्युक्त गुणवाले भगवान द्वारा जो धर्म उपदेश दिया गया है, वह ही सुगति प्रदान करनेवाला है। उसी से जीवों के समस्त अभीष्टों की सिद्धि होती है। उस धर्म की प्रधान कारण दया है। जिस प्रकार रसायन के योग से तांबा, सोना हो जाता है और उससे समस्त इच्छायें पूरी हो निकलती हैं, उसी प्रकार दया के साथ धारण किये गये धर्म के बराबर अमूल्य कोई वस्तु नहीं है। उससे मनचिन्ते कार्य पूरे हो जाते हैं। जो लोग देवताओं के लिये भी हिंसा करते हैं, प्राणियों का वधकर उन्हें दु:ख पहुँचाते हैं, वे नरक को प्राप्त होनेयोग्य दुष्कर्म करते हैं। जिस प्रकार विष मीठे पदार्थ के साथ खाया हुआ भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता, प्राण लेकर ही मानता है; उसी प्रकार देवताओं के लिये किया गया भी प्राणी वधरूप पाप, पुण्य कभी नहीं हो सकता। उससे अवश्य दु:ख प्राप्त होता है। इसलिए हे बाले! जो जिन-जिन कारणों से प्राणियों को दु:ख पहुँचाता है, उनके बाह्य और अन्तरंग प्राणों का नाश होता है। उन समस्त कारणों को तुझे छोड़ देना चाहिए। ऐसा करने से ही निर्दोष धर्म का उपार्जन होता है। संसार में प्राणियों को जो कुछ भी सुख मिलता है, वह सब कुछ दयारूपी कल्पलता के ही कारण से होता है। जिस प्रकार विलायंद से आकाश नहीं नापा जा सकता, उसी प्रकार इस दया के सहारे से होनेवाले गुणों की गिनती नहीं हो सकती। प्राणियों के ऊपर दया करने से बढ़कर कोई दूसरा श्रेष्ठ धर्म नहीं है और यही बात जिनेन्द्र भगवान ने कही है। हम चाहे कितने

भी अन्य धार्मिक अनुष्ठान करें, और क्रिया पाले परन्तु यदि उन्हें हम दया से रहित हो करते हैं तो वे सब निष्फल हैं, उनसे पुण्य के बजाय पाप की ही प्राप्ति होती है। जिस प्रकार नाना गुण और वस्त्राभूषणों से सुसज्जित भी कुलटा स्त्री एक शील गुण के अभाव में लोक में श्रेष्ठ नहीं गिनी जाती, उसी प्रकार समस्त धार्मिक क्रिया-कलाप एक दया गुण के न होने से प्रशंसित नहीं होते।

जो महात्मा पुरुष इस संसार की वास्तविक दशा का परिज्ञान कर भव और भोगों से विरक्त हो गये हैं, जिनकी शरीर के ढांचे में भी प्रीति नहीं रही है, जो तृण के समान अपनी समस्त लक्ष्मी को छोड़कर निर्ग्रन्थ व्रत धारण कर जीवन बिता रहे हैं, जो अपने प्राणों के नष्ट होने पर भी कभी अन्य जीवों की विराधना नहीं करते, जो मिथ्या वचनों का बोलना गर्ह्य समझते हैं, जिनके दूसरे की बिना दी हुई वस्तु ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा है, जो स्त्रियों के सहवास भोग से विरक्त हो चुके हैं, जो मुनि अवस्था के योग्य पिच्छी कमण्डल से अतिरिक्त परिग्रह रखने के त्यागी हैं, जो लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, लोष्ट कांचन और सुख-दुःख में समान भाव रखनेवाले हैं, जिनके सोने-बैठने की पृथ्वी ही शय्या है, जो वन आदि एकान्त स्थान में रहते हैं और जिनके अध्ययन, अध्यापन और ध्यान करना ही कर्म है, वे सांचे गुरु हैं। ऐसे गुरुओं के चरण कमल की रज स्पर्श करने से ही प्राणियों के पाप दूर भाग जाते हैं और ऐसे ही जातरूप गुरुओं के हस्तावलम्बन से संसार समुद्र में डूबते हुए लोग पार पाते हैं। इसके सिवा जो लोग काम, क्रोध, मद, उन्माद, मोह से अन्धे हैं, और इन्द्री में विषयों के भोगने में ही सर्वदा अनुरक्त रहते हैं, वे संसार सागर से जीवों का कभी उद्धार नहीं कर सकते। जिस प्रकार

गुरु/भारी वस्तु के सहारे कोई समुद्र नहीं पार कर सकता, उसी प्रकार ऐसे विषयान्ध गुरुओं के उपदेश से जीव संसार समुद्र पार नहीं कर सकते।

सुन्दरी! इस प्रकार देव-धर्म और गुरुओं के स्वरूप का ज्ञान और श्रद्धान कर। इससे तुझे इस लोक और परलोक दोनों लोक में सुख की प्राप्ति होगी। यही इस प्रकार श्रद्धान करना ही सबसे पहले इस जीव को कल्याणकारी है। इसके करने से ही समस्त नियम यम सार्थक होते हैं और वृद्धि को पाते हैं। इसके बिना कोई भी सुकर्म, सुकर्म नहीं होता।

प्यारी! यह जो तुझे सुदेव, सुधर्म और सुगुरु का स्वरूप बतलाकर श्रद्धान करना बतलाया है, इसको सुदृढ़ करने के लिये मदिरा, माँस और मधु न खाना चाहिए। इनके खाने से अनन्त जीवों का संहार होता है। अगणित जीवों की उत्पत्ति के स्थानस्वरूप बड़, पीपल आदि पाँच उदम्बरों का खाना भी अनुचित है। सूर्य के प्रकाश के न होने से अनेक जीवों का नाशक रात्रिभोजन करना ही सर्वथा अयोग्य है और अहिंसा आदि व्रतों का पालन भी आवश्यक है। कृत, कारित और अनुमोदित संकल्पी द्विन्द्रयादि जीवों की हिंसा का त्याग करना अहिंसाव्रत है। स्थूल मिथ्या वचनों का बोलना सत्यव्रत है। दूसरे की बिना दी हुई वस्तु ग्रहण न करना अचौर्यव्रत है। पराई स्त्री या परपुरुष का न सेवना ब्रह्मचर्यव्रत है। धन-धान्य आदि परिग्रह का परिमाण करना परिग्रह परिमाण व्रत है। समस्त कल्याणों का करनेवाला पात्र में दान देना दान है। भोग-उपभोग की वस्तुओं का परिमाण करना भोगोपभोग परिमाणव्रत है। समस्त परिग्रहों में ममता को छोड़कर अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं

के गुण स्मरणपूर्वक आराधना विधि से प्राण छोड़ना सल्लेखना है। दिशाओं में जाने का नियम करना दिग्व्रत है। देशों में जाने का नियम करना देशव्रत है। बिना प्रयोजन पापोत्पादक क्रियाओं का न करना अनर्थ दण्डव्रत है। प्रात: सायं और मध्याह्न में विधि अनुसार पंचगुरुओं का स्मरण और अपनी आत्मा का ध्यान करना सामायिक है और इन्द्रियों की उग्रता को रोकने, धार्मिक क्रियाओं के करने के लिये आठ प्रहर बारह प्रहर आदि समय तक अन्न आदि का त्यागना है, सो प्रोषधव्रत है।

इस प्रकार अहिंसा आदि बारह व्रतों का स्वरूप तुझे जिनेन्द्र भ्गवान के कथनानुसार कहा है, इन व्रतों का पालन तेरे लिये आवश्यक है। इसलिए अभी तो तू इसी प्रकार इन्हें धारण कर ले पश्चात् तुझे विशेष विधि अनुसार गुरु के समक्ष में इनसे दीक्षित करा दूँगा।''

अपने पति जिनदत्त की हृदयग्राहिणी युक्तिसिद्ध वाणी को जब राजपुत्री ने सुना, समझा तो वह अति आनन्दित हुई। उसने शीघ्र ही समस्त व्रत धारण कर लिये और जैनधर्म की गाढ़ श्रद्धावाली हो गई।

इस प्रकार अपनी प्यारी को अपने समान श्रेष्ठ धर्म से संस्कृतकर जिनदत्त सांसारिक सुख भोग रहे थे कि इतने में ही इनके साथ का वणिक समुदाय अपने देश लौटने की तैयारी करने लगा। जब यह समाचार इन्हें मालूम हुआ तो इन्होंने अपने ससुर राजा मेघवाहन से भी जाने का विचार प्रकट किया और उसने पुत्री तथा उसके परिवारसहित इन्हें देश जाने की सम्मति प्रदान कर दी। जिस समय

हमारे चरितनायक अपने ससुर से वियुक्त होने लगे और जहाज पर सवार होने के लिये चलने लगे तो इनके ससुर ने इन्हें छत्तीस करोड़ सुवर्ण मुद्राओं के मूल्यवाले हार को भेंट में दे इनका सत्कार किया एवं अन्य राजकीय परिवार के मनुष्यों ने तथा अंत:पुर की रानियों ने यथायोग्य भेंट आदि दे, इनमें स्नेह और भक्ति प्रगट की।

जिनदत्त ने समुद्र के किनारे तक साथ आये हुए अपने स्नेहियों को विदा किया और मांगल्य विधिपूर्वक शुभ मुहूर्त में जहाज पर सवार हो अपने साथी व्यापारियों के साथ देश की तरफ रवाना हो गये।

इस प्रकार श्रीमद्-आचार्य गुणभद्राचार्यविरचित संस्कृत जिनदत्त चारित्र के भावानुवाद में चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ।।४।।

पाँचवाँ सर्ग

अनुकूल पवन होने से जहाज शीघ्रतापूर्वक देश की तरफ लौटने लगा। उसमें बैठे हुए लोग समुद्र की शोभा निरीक्षण करने लगे। मार्ग में कहीं उन्हें वेत्रलतायें दिखने लगीं। कहीं मगरमच्छ दिखलाई पड़ने लगे। कहीं मछलियों के झुण्ड के झुण्ड दिखाई पड़ने लगे। कहीं अनेकान्त मत के समान वह अनेक भंगों (नयी तरंगों) से शोभित जान पड़ने लगा। कहीं कान्ता के स्तनकट के तुल्य मुक्ताहार से संयुक्त दिख पड़ने लगा, कहीं कृपण के समान अपनी छिपी हुई अमूल्य माणिक्य व शंखादिक द्रव्यों को कुछ-कुछ दिखाकर फिर छिपाता हुआ मालूम होने लगा। कहीं नदी आदि के गिरने से भीषण शब्दों वाला दीख पड़ने लगा। कहीं कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्यों के संसर्ग से सुगन्धित पवन वाला जंचने लगा और कहीं किसी भिन्न प्रकार की ही छटा दिखलाने लगा।

इस प्रकार जहाज जब खूब जोरों से जा रहा था और सब लोग समुद्र की नाना छटाओं का आस्वादन लेते जा रहे थे कि इतने में सेठ समुद्रदत्त की दृष्टि रूप की खानिस्वरूप जिनदत्त की नवविवाहित पत्नी श्रीमती पर जा पड़ी। वह उसके अप्रतिम सौन्दर्य को देख अवाक रह गया। वह उस पर ऐसा आसक्त हो गया कि खाने, सोने, जागने, उठने, बैठने की भी उसे सुध न रही। उसके संगम की तीव्र लालसा से एक-एक दिन भी उसको वर्षों सरीखा कटने लगा और वह कामाग्नि से संतप्त हो सोचने लगा-

''अहा! मैंने हजारों और लाखों सुन्दर-सुन्दर युवती स्त्रियाँ देखी हैं परन्तु देखने से तो वे मुझे किसी काम की ही नहीं मालूम पड़ती। यदि उनका इसके पैर के अंगूठे से भी मिलान करूँ तो भी वे बराबरी नहीं कर सकती। इस संसार में वही पुरुष धन्य है और वह ही वास्तव में प्रशंसा के योग्य भी है, जिसको वह स्वयं अपने कटाक्षों से ताड़ित कर सुखी बनाती है। हाय! यह समस्त संसार के आनन्द को प्रदान करनेवाली परम सुन्दरी रमणी मुझे कैसे मिले? यदि किसी तरह यह प्राप्त हो जाये तो मैं अपने को धन्य समझूँ और तब ही मेरा जीवन भी सफल हो। अथवा इसके पति वीर श्रेष्ठ कुमार के जीवित रहने पर मेरा मनोरथ सिद्ध होना सर्वथा असम्भव है, इसलिए सबसे पहिले इसी (जिनदत्त) को मगरमच्छों से व्याकुल इस अथाह समुद्र में गिराकर मार डालूँ और तब नि:शंक हो इसके साथ सुख भोगूँ।''

सेठ ने इस प्रकार जब अपने मन में कामाग्नि बुझाकर शान्त होने का दृढ़ निश्चय कर लिया तो जिनदत्त से भिन्न पुरुषों से गुप-चुप यह बात कह दी कि ''देखो! यदि समुद्र में कुछ बर्तन आदि गिर पड़े तो तुम लोग कोई भी उठाने का प्रयत्न न करना। उसे यों ही रहने देना।'' और स्वयं जानबूझकर एक बड़ी भारी वस्तु उसमें पटक दी। वस्तु के गिरनेमात्र से बड़ा भारी शब्द हुआ पर सेठ की आज्ञानुसार किसी ने जानबूझकर भी उसे निकालने का प्रयत्न न किया। सबके सब चुपकी मारकर रह गये। जिनदत्त को समुद्रदत्त के गुप्त दुर्विचार का पता न था, वे सचमुच किसी हानिकर वस्तु के गिर जाने के भय से उसे निकालने के लिये समुद्र में उतरने पर राजी हो गये। कुमार ज्यों ही उतरकर जल में पहुँचे त्यों ही दुष्ट समुद्रदत्त ने

उसकी रस्सी काट दी और वे निरालम्ब हो समुद्र में ही रह गये एवं समुद्रदत्त जहाज भी शीघ्र-शीघ्र खेवाकर वहाँ से बहुत दूर ले गया।

अपने पति कुमार जिनदत्त के इस तरह असमय में वियुक्त हो और आँखों देखते अन्याय से पीड़ित होते देख विचारी श्रीमती की विलक्षण दशा हो गई। वह जल के बिना मछली के समान अपने प्राणाधार के वियोग में दु:ख से छटपटाने लगी, रोते-रोते उसकी हिचकी भर आई, नेत्र लाल हो गये, तन-बदन की सुधि न रही और किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो निश्चेष्ट हो गई। उसकी यह अवस्था और अपने मनोरथ की सिद्धि का सुअवसर देख दुरात्मा समुद्र सेठ शीघ्र ही उसके पास आया और अपने विष भरे शब्दों में उससे यों बोला-

''अयि चन्द्रवदनी! सुन्दरी! शोक मत कर। जिसके लिये तू शोक करती है, वह समस्त सुख मैं तुझे देने के लिये तैयार हूँ। मैं तेरी समस्त आशायें पूरी करूँगा, परन्तु तू एक बार मेरी ओर प्रसन्न हो दृष्टिपात कर। हे तन्वंगि! जब तेरी सम्पूर्ण आज्ञाओं को सिर पर उठानेवाला मैं तैयार हूँ और असंख्य धन तेरे हाथ में है, तब तेरा खेद करना व्यर्थ है। हे शुभानने! बढ़िया-बढ़िया वस्त्र विचित्र-विचित्र गहने जो तुझे चाहिए, उन्हें पहिन और ओढ़, समस्त भृत्यों के ऊपर मालिकी कर एवं मेरे साथ निर्विघ्न सुख भोगते हुए, अपने इस अमूल्य अनुपम यौवन को सार्थक बना। हे मुग्धे! मैंने तेरी इसी यौवन की बहार लूटने के लिये और तुझे सर्व प्रकार से सुखी बनाने के लिये ही छलपूर्वक जिनदत्त को समुद्र में गिरा दिया है। अब वह बेचारा कहाँ? तू नि:शंक हो सर्व प्रकार के इन्द्रिय सुख भोग। तेरा इसमें कोई कण्टक नहीं हो सकता।''

पापी सेठ की इन बातों को सुनकर तो श्रीमती के और भी होश उड़ गये। वह अब तक तो अपने भाग्य को कोस-कोसकर ही रोती थी, परन्तु जब उसे जहाज के मालिक सेठ की ही यह करतूत मालूम पड़ी और तिस पर भी उसके अपने साथ व्यभिचार करने के भाव मालूम हुए तो वह और भी विह्वल हो गई। उसने अपने सिर को पटकते-पटकते सोचा-''हाय! इस सेठ को अब तक मैं अपने पिता के तुल्य समझती परन्तु वह ही बैरी निकला। इसी कामान्ध ने अपने व्यभिचार के पोषणार्थ मेरे पतिदेव को समुद्र में गिरा दिया है और फिर अब पाप का प्रस्ताव कर घाव में नमक छिड़क रहा है। हाँ! भगवन्! यह कैसा मूढ़ है कृत्य-अकृत्य के विचार से सर्वथा रहित है, जो अल्प क्षण स्थायी विषय सुख के लिये अपने नित्य सुखदायक धर्म को तिलांजलि देने पर तैयार हो गया है। अरे! मेरे पति चंद्र को निगल कर मेरी आँखों से ओझल करने करनेवाले इस दुष्ट पिशाच का मैं मुख ही क्यों देख रही हूँ। हा! अथवा इसमें इसका अपराध ही क्या है? मैं ही पापात्मा सर्वथा अपराधिनी हूँ, मेरे रूप की सुन्दरता को देखकर ही इसने ऐसा किया है। यदि मैं कुरूप होती तो क्यों ऐसा यह करता, इसलिए अपने दाँतों से जीभ काटकर मर जाना अच्छा! अथवा जल में कूद कर प्राण दे देना अच्छा, या तलवार से ही अपना घात कर लेना अच्छा। अरे! नहीं!! नहीं!!! मैं कैसी मूढ़ हो गयी हूँ जो धर्मशास्त्रियों द्वारा निषिद्ध आत्मघात करने की मन में ठान रही हूँ। हाँ! आत्मघात करने के इस विचार को धिक्कार हो। क्योंकि आत्मघातियों को इस भव में जो दुःख है, वह तो भोगना पड़ता ही है, परभव में भी असह्य कष्ट का सामना करना पड़ता है और जो धर्म कर्म मैं दृढ़ हो

शील पालन करते हैं, उनको इस भव-परभव दोनों में सुख ही सुख मिलता है। उनकी सर्वत्र इच्छायें पूरी होती हैं। सीता, अंजना आदि ने कैसा दु:ख भोगा, परन्तु वे अपने व्रतों में दृढ़ रही तो आखिर कैसा सुख पाया। इसलिए मेरा शीलव्रत में दृढ़ रहने का पक्का निश्चय है, परन्तु कामार्त्त पापी इस तरह न मानेगा, इसका किसी न किसी तरह वंचन करके अपना काम निकालना चाहिए। पार पहुँचकर यदि पतिदेव का कुछ पता लगेगा तो ठीक, नहीं तो फिर तपोवन ही शरण है।'' ऐसा सोच समझकर सुन्दरी ने सेठ समुद्र से उत्तर में कहा-

''आर्य! आपका कहना अयुक्त है। आपके पुत्र ने मुझे आपको अपना पितातुल्य बतलाया था, इसलिए आप मेरे पिता के सदृश्य पूज्य ससुर लगते हैं, आपके साथ रमण करने की मुझे इच्छा न होकर उल्टी घृणा ही होती है। जो लोग श्रेष्ठ होते हैं, वे अपने प्राणों का वियोग उपस्थित हो जाने पर भी स्वीकृत वचनों से पीछे नहीं हटते, वे समुद्र के समान सर्वथा वचन मर्यादा का ही पालन करते हैं। अपने निर्मल श्रेष्ठ कुल में हिताहित विवेकी पुरुष कभी भी परस्त्रीसंग सरीखे पाप से जायमान कलंक से दूषण नहीं लगाते-वे सर्वदा उत्तमोत्तम कार्यों के करने से अपनी निर्मल कीर्ति ही विस्तारते हैं। इसके सिवा अपनी उच्च कुल में जन्म पाने की यादकर भी मेरा मन ऐसे निकृष्ट कार्य करने में अग्रसर नहीं होता है।''

श्रीमती के उपर्युक्त साहस भरे हित वचनों को सुनकर भी मूढ़ सेठ का हृदय न पिघला। उसके उन वचनों से शान्ति न हो कामाग्नि दाह प्रबल ही हो निकली। वह और भी ढीठ होकर बोला -

''अयि! मनस्विनी! तू जो कुछ भी इस समय कह रही है, वह सब सच है, उसे मैं भी रत्ती-रत्तीभर जानता हूँ, परन्तु तुझे देखकर मुझे काम ने इस तरह बेहोश कर दिया है कि मेरे लज्जा विवेक आदि समस्त गुण नष्ट हो गये हैं। मैं कन्दर्परूपी सर्प के विष से ऐसा मूर्च्छित हो गया हूँ कि सिवा तेरे सुरतरूपी अमृत का पान किये चंगा हो ही नहीं सकता। तूने तो इस परपुरुष सेवन को अकार्य बतलाया, वह कथंचित ठीक है, परन्तु सर्वथा वह अकार्य ही नहीं है। ऐसे सैकड़ों और हजारों दृष्टान्त श्रुति और पुराणों में मिलते हैं जो एक पुरुष के सिवा अन्य कई पुरुषों से स्त्री के भोग करने पर भी वह सती ही बनी रही है, उसका शीलव्रत दूषित नहीं हुआ। देख! द्रोपदी ने अपने पिता पुत्र तुल्य युधिष्ठिर नकुल आदि अपने पति अर्जुन के सिवा शेष चारों पाण्डवों से भी यथेष्ट काम क्रीड़ायें की, परन्तु उसे कोई व्यभिचारिणी नहीं कहता। सब लोग सती साध्वी कहकर ही पुकारते हैं। समस्त स्मृति और पुराणों के वेत्ता, देवेन्द्र, नरेन्द्रों द्वारा वन्दनीय भारद्वाज मुनि की क्या तुझे कथा नहीं मालूम है, वे इतने भारी विद्वान् होने पर भी अपनी भावज के साथ सम्भोग करने पर सन्नद्ध हुए थे। यदि परस्त्री संसर्ग पाप ही होता तो इतने बड़े शास्त्रज उस कुकर्म में कैसे प्रविष्ट होते। इसके सिवा यह शास्त्र का भी वचन है कि जो पुरुष व स्त्री स्वयं इच्छाकर आये हुए पुरुष व स्त्री के साथ सम्भोग नहीं करता, उसको अवश्य ही ब्रह्महत्या लगती है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। इसलिए हे तन्वि! समस्त भय छोड़ मेरी इच्छा पूर्णकर मुझे सुखी बना।''

सेठ की इस प्रकार कुयुक्ति और कुत्सिततापरिपूर्ण वचन प्रणाली को सुनकर श्रीमती बोली -

''महाबुद्धि के धारक हे ससुर! आप जो कुछ कह गये हैं, वह आपको शोभा नहीं देता। आपने साक्षात् व्यभिचार को जो द्रोपदी आदि के दृष्टान्त देकर मुझे शील समझाने का प्रयत्न किया है, वह ठीक नहीं। क्योंकि एक तो सब कुछ होने पर भी लोक में ससुर और बहू का संगम निन्दनीय है। प्रशंसनीय नहीं। दूसरे पृथ्वी तल को अपने शील की पवित्रता से पवित्र करनेवाली द्रोपदी के विषय में जो बात कही, वह सर्वथा अयोग्य है। वास्तव में उसके एक अर्जुन के सिवा कोई दूसरा पति न था। युधिष्ठिर आदि चारों भाई पिता पुत्र के समान थे। लोगों ने जो किवदन्ती उसके पंचभर्तारी होने की उड़ा रखी है, वह सर्वथा कल्पित मिथ्या है। किसी विषयान्ध की गढ़ी हुई है। भारद्वाज का जो दृष्टान्त दिया वह भी ठीक नहीं जँचता। क्योंकि आप सरीखे विषयान्ध पापियों का इस पृथ्वी पर से कभी लोप नहीं हुआ। पहिले भी वे विद्यमान ही थे और आपने स्वयं आये हुए पुरुष व स्त्री के न भोगने से ब्रह्महत्या के समान पाप होने का भय दिखलानेवाला शास्त्रवाक्य सुनाया, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उसके ठीक होने पर तो व्यभिचार कोई पाप ही नहीं ठहरता और जब पाप नहीं, तब उसी शास्त्र में व्यभिचारियों को शिरच्छेद आदि दिए जानेवाले दण्डों का विधान ही अयुक्त ठहरता है। जो सात्विक प्रकृतिवाले धर्मात्मा पुरुष होते हैं, वे एक की तो क्या बात हजारों कष्टों के पड़ने पर भी कभी अपने से अयोग्य कृत्य में प्रवृत्त नहीं होते। चाहे कितने भी कष्ट आ पड़े और कैसी भी भूख लग रही हो परन्तु सिंह कभी अपने आहार के अयोग्य घास-फूंस नहीं खा सकता। इसी प्रकार काम की तीव्र बाधा होने पर भी धर्मात्माओं के मन कभी कुकर्म करने में अग्रसर नहीं होते। जिन

पुरुषों के कमजोर दीन हृदय पुंश्चली स्त्रियों के कटाक्ष बाणों से विंध हो खण्ड-खण्ड हो जाते हैं, अपने सुकृत्य को छोड़ उनकी ही आज्ञा में चलने लगते हैं तो जिस प्रकार दूसरी स्त्री से सेवित पुरुष को पहिली स्त्री ईर्ष्या की दृष्टि से देख निकलती है, उसी प्रकार उन पुरुषों को भी इहलोक और परलोक दोनों की सम्पत्तियाँ बुरी निगाह से देखने लगती हैं, वे उनके पास तनिक भी नहीं फटकती। इसके विपरीत परस्त्रियों द्वारा अपने भ्रूधनुष पर चढ़ाकर फेंके गये कटाक्षरूपी बाणों से जिनका शीलरूपी दृढ़ कवच भिन्न नहीं होता। उनके लिये समस्त संसार अपना मस्तक नमाता है, उन्हें दोनों लोक की सम्पत्तियाँ स्वयं आ प्राप्त हो जाती हैं। जिस कार्य के करने से अपने कुल में कलंक लगता है, निर्मल यश दूषित होता है, उस साक्षात् दुःख देनेवाले कुकर्म को ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष है जो सुख प्राप्त करने की इच्छा से करता है। जो सज्जन पुरुष हैं, वे बहुत से विवाह अपनी सन्तान की बढ़वारी के लिये करते हैं। परन्तु जो मूर्ख हैं, वे उन्हीं में कामाग्नि की शान्ति के लिये आसक्त हो नाना पाप उपार्जन करते हैं। और अन्त में नरक में पड़ नाना दुःख भोगते हैं। जिस प्रकार पड़ी हुई मेघ की धारा से हत हो वृषभ नीचे को गर्दन कर चले जाते हैं, उसी प्रकार सज्जन धर्मात्मा पुरुष भी परस्त्रियों को सामने पड़ती देख नीचे को निगाह कर एक तरफ से चले जाते हैं। अपने को देखकर काम के बाणों से जर्जरित हो स्वयं समीप में आई हुई भी परस्त्रियों को देखकर जो काम से पीड़ित नहीं होते, उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से ही देखते हैं, वे वास्तव में महाव्रती हैं। उनके महाव्रत है, उससे ब्रह्महत्या के समान पाप नहीं लगता, बल्कि उनके सेवन से ही उल्टा पाप होता है। जो महात्मा दूसरों की स्त्रियों

को माँ-बहिन-बेटी के समान समझता और धन को मिट्टी के ढेले के समान जानता है, उसी का संसार में निर्मल यश विस्तृत होता है। एक बार पाताल में कोसों दूरी की जड़ को धारण करनेवाला सुमेरु पर्वत हिल सकता है, समुद्र अपनी मर्यादा को भंग कर सकता है। परन्तु पवित्र सतियों का दृढ़ गम्भीर मन कभी भी दुश्चरित्रों से चल-विचल नहीं हो सकता। प्राण जाये तो जाये परन्तु सतियाँ अपने शील में कभी भी दूषण नहीं लगा सकती। इसलिए मैं भी कामाग्नि की डाह बुझाने पर राजी नहीं। देखो, मेरी तो क्या बात? मैं तो सैनी पंचेन्द्रिय हित-अहित की जाननेवाली मानुषी हूँ, परन्तु जो सामान्य अत्यल्प ज्ञान की धारण करनेवाली एकेन्द्री मनरहित पद्मिनी वनस्पति है, वह भी अपने पति सूर्यदेव के अन्तर्हित होने पर सर्वदा सुन्दर और शीतल चन्द्रमा के रहने पर भी उसकी ओर झांककर भी नहीं देखती। शेष नाग के सिर पर की मणि चाहें कोई छू ले और सिंह के गर्दन के बाल चाहे कोई अपनी मुट्ठी में भर ले, परन्तु सतियों के पवित्र शरीर को कोई भी अपवित्र मनुष्य अपने शरीर से नहीं छू सकता। इसलिए हे हिताहित के विचारने में प्रबल बुद्धि के धारक! तुम अपने मन को सर्वथा शुद्ध बनाओ। अब तक जो अशुद्ध भावों में गन्दा हृदय हो रहा है, उसे उन भावों को निकाल कर पवित्र कर डालो।''

श्रीमती के इस प्रकार पवित्र उपदेश के वाक्यों को सुनकर सेठ क्रोध से आगबबूला होकर बोला-

''अरी! मूर्ख! तुझे मैं अच्छी तरह जानता हूँ। तू बड़े ही कठोर हृदय की अर्द्धदग्धा पण्डिता है। अरे! तुझे ब्रह्मा ने वास्तव में मुझे सन्ताप देने के लिये ही सुन्दरी बनाया है। तू ऊपर से ही

भोलीभाली, लावण्य के चाकचिक्य से देदीप्यमान, मुख की कान्ति से पूर्णिमा के चाँद को भी लजानेवाली है। परन्तु भीतर से बड़ी ही दुष्ट विषवेल के समान है। हे दुर्युद्धे! तू जैसी ऊपर है, वैसी ही भीतर भी क्यों नहीं हो जाती। इस समय मैं तुझसे अन्य कुछ नहीं चाहता। केवल इतना ही कहता हूँ कि मुझसे अपने संगम की कुछ दिनों के बाद की प्रतिज्ञा कर ले, जिससे फिलहाल में आशा में ही दिन बिताऊँ और तेरे मुख की कान्ति को आशा भरे नेत्रों से पी-पीकर अपनी जीवन कायम रखूँ। अन्यथा यदि तू ऐसा न करेगी तो मैं तेरे सामने इसी समय तेरे प्रेम में आसक्त होने के कारण निराशा से प्राण छोड़ दूँगा और द्विज देवों के भक्त समस्त जनों के प्रिय मेरे इस तरह मर जाने से पाप तेरे मत्थे पर पड़ेगा।''

राजपुत्री श्रीमती ने जब इस प्रकार सेठ का आग्रह समझा और वर्तमान में हानि के बदले अपना लाभ ही देखा तो उसने अपने मन के भावों को मन में ही छिपाकर सेठ के अभिप्रायानुसार ही यों कहा-

''अच्छा! यदि आपका अधिक आग्रह ही है और मनोरथ की सिद्धि बिना हुए अपने प्राण तक छोड़ने को तैयार हैं तो कृपाकर छह महीने तक ठहर जाईये। मैं जब तक अपने पतिदेव के नाम से ही समस्त कृत्य करूँगी फिर उसके बाद आप जैसा कहेंगे करने लग जाऊँगी। क्योंकि बिना पति के मैं जन्म बिता नहीं सकती और आपसे श्रेष्ठ पति मिलना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव भी है। आप समस्त युक्त अयुक्त के विचारने में चतुर हैं, विवेकी वृद्ध हैं, आप जो कुछ कहते हैं, वह सब ठीक है, उसके करने से मेरी कुछ क्षति नहीं हो सकती।''

सेठ समुद्र, श्रीमती के इस प्रकार अपने अनुकूल वचन सुनकर लम्बी सांस खींचकर बोला-''सुन्दरी! मैं इसे स्वीकार करता हूँ, परन्तु छह महीने बहुत होते हैं। अच्छा! जब तूने मेरे अभिप्राय को सिद्ध करना स्वीकार ही कर लिया है और उससे काम ने मुझे सन्ताप देना कम कर दिया है तो मैं तब तक किसी न किसी तरह अवश्य ही ठहरूँगा।''

इस प्रकार उन सेठ और राजपुत्री श्रीमती में जब समझौता हो गया तो वे उस समय किसी प्रकार शान्त हो गये। इसके कुछ ही दिनों के बाद जहाज घाट पर आ लगा। और यह देख सब लोग मन में हर्षित होने लगे।

श्रीमती ने यद्यपि वचन से छह महीने के बाद सेठ की पत्नी होना स्वीकार कर लिया था, परन्तु मन में उसे उससे बहुत ही घृणा थी। वह वैसा करना महानीच कार्य समझती थी, इसलिए सेठ के पंजे से किसी प्रकार निकलने की इच्छाकर उसने अपने भृत्यों से कहा आज मुझे बहुत प्यास लग रही है, इसलिए सेठ से कहना कि आज नदी के किनारे वृक्षों की छाया में विश्राम करें। श्रीमती की यह अभिलाषा सुन सेठ ने उसकी रक्षा में नौकरों को प्रबन्ध कर वहीं रहना स्वीकार कर लिया। और स्वयं भेंट लेकर राजा की सेवा में चल दिया। सेठ के नगर में चले जाने पर श्रीमती की रक्षा में नियुक्त पुरुष तो नौकाओं से क्रीड़ा करने में लग गये और इस अवसर को अच्छा समझ वह स्नान के बहाने अपने खास-खास भृत्यों को लेकर चम्पा नगरी में आये हुए एक वणिकों के झुण्ड में जा पहुँची एवं अपना समस्त पूर्व समाचार उनको सुना आश्रयदान चाहने लगी। श्रीमती के वृतान्त को सुनकर उन वैश्यों के प्रधान ने उसे

आश्वासन दिया और पुत्री के समान उसे समझकर निशंक हो अपने साथ चलने को कहा। क्रम-क्रम से चलकर वैश्यों का समुदाय और श्रीमती दोनों चम्पानगरी के बाहिर उद्यान में पहुँचे और वहाँ श्री जैनमन्दिर को देखकर श्रीमती उसमें बड़े ही आनन्द से जय-जय शब्दों को करती हुई प्रविष्ट हो गयी।

जिनदत्त की प्रथम स्त्री विमलमति जिसको वे छोड़कर धन उपार्जन करने के लिये परदेश गये थे, वह उनके वियोग में पूर्व पाप कर्म की शान्ति के लिये उसी मन्दिर में धर्मध्यान किया करती थी। उसने ज्यों ही इस श्रीमती को अपने समस्त परिवार से वेष्टित उदासीन देखा तो जिनेन्द्र भगवान की स्तुति के बाद सामायिकादि कर चुकने पर कुशलक्षेम का प्रश्न किया। जिसके उत्तर में बहुत कुछ समझाने पर दु:ख और शोक के साथ श्रीमती ने कहा -

''बहिन! मेरी कथा बड़ी ही दु:खदायिनी है। स्नेह से पीड़ित प्राणियों को इस संसार में पग-पग पर दु:ख उठाने पड़ते हैं। वज्र की सांकलों से बँधे हुए प्राणियों का जन्म-जन्म में छूटना न होकर बँधना ही होता चला जाता है। इस संसार में जीव को सर्वदा चारों गतियों में भ्रमण करानेवाले उनके शुभाशुभ कर्म ही हैं, परन्तु वे भी इसी स्नेह के कारण ही उत्पन्न होते हैं और उस स्नेह के उत्पन्न करने में भी कारण इन्द्रिय विषय हैं। यदि विषय भोगने की इच्छा का सर्वथा नाश हो जाये तो स्नेह और द्वेष ही न रहें, इसलिए जो भोगों से सर्वदा निस्पृह हैं, वे तो अनन्त मोक्ष के नित्य सुख भोगते हैं और जो हम सरीखे विषय लोलुपी नराधम हैं, वे शहद लपेटी छुरी के समान प्रथम ही अच्छे लगनेवाले इन्द्रियविषयों को ही चाटते-चाटते इस अनन्त दु:खम समय में दु:ख उठाते फिरते हैं।''

इस प्रकार अत्यन्त शोकपरिपूर्ण वचनों में अपने वृतान्त की भूमिका को कहती हुई श्रीमती को विमलमति बीच में ही रोककर धैर्य बँधाने के लिये कहने लगी।

''प्यारी बहिन! अधिक शोक करने की आवश्यकता नहीं है, जो जैसा जिसके भाग्य में सुख-दु:ख होना होता है, अवश्य ही होकर मानता है, उसके विपरीत यदि इन्द्र करना चाहे तो नहीं कर सकता। स्नेह और द्वेष ये दोनों भी पूर्वकर्म के अनुसार ही होते हैं और चिन्ता करने से रात-दिन उसी के कारण ही बढ़ते चलते हैं। इसी कर्म के ही कारण यह जीव क्षणभर में सुखी, क्षणभर में दु:खी, क्षणभर में दास, क्षणभर में स्वामी और क्षणभर में इष्ट जनों के वियोग, अनिष्ट जनों के संयोग से संयुक्त हो जाता है।

सखी! जिस संसार में रूप, लावण्य और सौभाग्य के भंग हो जाने में कुछ भी देरी नहीं लगती, उसमें सुख कैसे हो सकता है? हर्ष, विषाद आदि परस्पर विरुद्ध भावों के उदय होने से जहाँ पलक मारने के समान भी देरी नहीं लगती, वहाँ प्रेम की स्थिरता कहाँ रह सकती है? हे सुलोचने! हम स्त्रियों का जन्म इस संसार में बड़ा ही निकृष्ट है जो सबसे अधिक प्यार करनेवाले माँ-बाप भी हमें दूसरों के लिये ही पाल-पोसकर बढ़ाते हैं, अनर्थकारी यौवन के प्रारम्भ होने पर कामजन्य सुखों से लिप्त हो हम सर्वथा पति के जीवनाधार ही हो जाती हैं और उस (पति) के वियुक्त हो जाने पर पाले के पड़ने से कमलिनी के समान मानसिक सन्तापों से दग्ध हो सूखने लगती हैं। इसके सर्वथा भंग हो जाने से अन्तरंग में सार शून्य हुई बाहर से ही केवल मनोहर लगनेवाली, अलंकारों से सर्वथा रहित हम लोगों के चरित्र को चाहे वह निर्मल ही क्यों न हो तो भी शंका से लोग

दूषित ही समझने लगते हैं। जिस प्रकार कुकवियों की कविता ओज प्रसाद आदि काव्य के गुणों से सर्वथा रहित होती है, कष्टपूर्वक बनायी जाती है और अप शब्दों से भरी रहती है, इसलिए इसकी कोई कदर नहीं करता; उसी प्रकार हम पतिविरहिता (विधवा) होने के से कष्टपूर्वक तो जीवन व्यतीत करती हैं, प्रसन्नता हास्य आदि से सर्वथा शून्य रहती हैं और अपशब्दों से ही पुकारी जाती हैं। अत: इस निन्दनीय स्त्री पर्याय का अन्त करने के लिये समस्त संसार की सम्पत्तियों को प्रदान करनेवाले जिनेन्द्र भगवान के शासन में ही मन और भक्ति लगाना ठीक है। उसी के सेवने से हमारा कल्याण होगा। सुख और दु:ख जब इस संसार में समस्त जीवों को समान ही हैं, किसी को चिरस्थायी सुख नहीं, तब वह हमें ही कहाँ से मिल सकता है। इसलिए पूर्व उपार्जित कर्म के फल को भोगने के लिये हमें सर्वदा तैयार रहना चाहिए। अपने मन को स्थिर रख सर्वदा कर्म के फलों को भोगना चाहिए।''

इस प्रकार विस्तारपूर्वक विमलमति से समझाई गयी उस श्रीमती ने अपना और अपने पति का समस्त वृतान्त उससे कह डाला। उसे सुनकर विमलमति ने जब उसके पति की रूप चेष्टा आदि पूछी तो वे भी उसने कह दी जिसे सुनकर विमलमति के मन में एक अदभुत तरंग उठी, उसने सोचा - 'हो, न हो, यह मेरा पति जिनदत्त ही तो नहीं है। इसकी बतलाई सब चेष्टाएँ उनसे मिलती-जुलती ही मालूम पड़ती हैं। अथवा इस दुष्ट संकल्प को धिक्कार हो। मन से बिना निश्चय किये इस प्रकार के भाव कराना सर्वथा अयोग्य है। दुनिया में एक तरह के अनेक मनुष्य होते हैं, बहुत से रूप और चेष्टाओं में समान होते हैं परन्तु रहते भिन्न-भिन्न हैं। यह भी (इसका

पति) कोई मेरे पति से भिन्न ही होगा।' इसके बाद विमलमति ने अपना समस्त वृतान्त भी उसे कह सुनाया जिससे समान दु:खवालीं वे दोनों बहिन के समान परस्पर प्रेमवाली हो नित्य स्वाध्याय, व्रत आदि में तत्पर रहने लगीं और ठीक-ठीक समस्त पति के वृतान्त ज्ञात होने पर यदि उनका संयोग न हुआ तो मोह का मंथन करनेवाला जिनेन्द्र का तप तपेंगी, ऐसा दृढ़ विचारकर रहने लगीं।

इसी बीच में सज्जनों का प्रेमी विमलमति का पिता सेठ विमल श्रीमती के आगमन का समाचार सुन वहाँ आया और जिनेन्द्र भगवान की भक्ति पूजाकर चुकने के बाद उनके समीप पहुँचा। पिता को समीप आया देख, उन दोनों ने प्रणाम किया। उसके बाद श्रीमती की कुशलक्षेम पूछी। उसके उत्तर में श्रीमती ने अपनी सखी विमलमति की तरफ नीचे निगाह कर वृतान्त कहने की इच्छा प्रकट की। जिससे विमलमति ने उसका समस्त वृतान्त अपने पिता को कह सुनाया।

श्रीमती का वृतान्त सुनकर सेठ विमल को बड़ा दु:ख हुआ, उसने समस्त लोक को आनन्द करनेवाले उसके सौन्दर्य और यौवन को पति के वियोग से कलंकित करनेवाले देव को बार-बार धिक्कारा और अमृत में विष मिला देनेवाले मूर्ख भाग्य की खूब ही निन्दा की। अन्त में असातावेदनीयकर्म की कृपा से संसार में समस्त प्राणी दु:ख भोगते हैं। यह जानकर श्रीमती से कहा -

''प्यारी पुत्री! शोक छोड़कर यहाँ ही अपनी इस बहिन के साथ रह और धर्म में मन लगा। धर्म के प्रभाव से तुम दोनों का शीघ्र ही असाता वेदनीय नष्ट हो जायेगा और तब तुम्हें अवश्य ही अभीष्ट

सुख प्राप्त होगा। तू यह निश्चय समझ। तेरा और इस विमलमति दोनों का एक ही पति है, किसी न किसी शुभ कारण से तुम दोनों के मनोरथ सफल हुए जो समान आकृतिवाली तुम दोनों की भी संगति हो गयी है। तेरे पति का जब तक पूरा-पूरा समाचार न मिले, तब तक इसी जगह रह और धर्मध्यान से काल बिता। ऐसा करने से ही कल्याण होगा।''

इस प्रकार अच्छी तरह समझा और धैर्य बँधाकर सेठ विमल तो अपने घर चले गये और वे दोनों परस्पर में प्रीतियुक्त हो वहाँ ही जिनेन्द्र की पूजा, पात्र के दान, जैन शास्त्र के स्वाध्याय और मुक्तावली आदि व्रतों के आचरणों से काम की इच्छारहित हो दिन बिताने लगी एवं पृथ्वी पर अवतीर्ण हुई कीर्ति और लक्ष्मी के समान शोभित होने लगी।

इस प्रकार श्रीमद्-आचार्य गुणभद्राचार्यविरचित संस्कृत जिनदत्त चारित्र के भावानुवाद में पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ।।५।।

छठवाँ सर्ग

जिस समय हमारे चरित्रनायक ने गिरी हुई वस्तु को उठाने के लिये समुद्र में डुबकी लगाई और कार्य सिद्ध हो जाने पर ऊपर उछाल मारी तो अपना आलम्बनभूत रस्सा कटा पाया एवं जहाज का निशान तक उस जगह न देखा। यह देख वे सेठ की चालाकी समझ गये और मन में सोचकर कि सज्जनों का मन सुख में तो मक्खन के समान कोमल होता है और विपत्तियाँ, दु:ख में वह पत्थर से भी अधिक कठोर हो जाता है। अपनी भुजाओं से समुद्र में तैरना प्रारम्भ कर दिया। हाथों से तैरते-तैरते ये कुछ दूर ही पहुँचे थे कि इतने में इन्हें एक काठ का टुकड़ा मिल गया। उसे पाकर ये बड़े ही प्रसन्न हुए। उसे मित्र के समान ये कभी तो पैरों से आलिंगन कर तैरने लगे, कभी पीठ से सहारा ले जल में बहने लगे और कभी उदर तथा कटिका आश्रय ले नि:शंक हो आगे बढ़ने लगे।

इस प्रकार विकट चंचल गम्भीर समुद्र में हमारे चरितनायक तैरते चले जाते थे कि मार्ग में सुन्दर आकार के धारक दो पुरुष आकाश में जाते हुए इन्हें मिले। उनमें से एक ने इन्हें लक्ष्यकर ताड़नापूर्वक कहा-

"रे! रे!! तुच्छ मनुष्य!!! तू यहाँ कहाँ तैर रहा है! क्या तुझे नहीं मालूम? इस जगह हम लोग रहते हैं। हमारे स्थान पर हमारी बिना आज्ञा के इन्द्र भी चाहे तो नहीं क्रीड़ा कर सकता, फिर तुझ सरीखे क्षुद्र शक्ति के धारक मनुष्य की तो बात ही क्या है? अथवा

इसमें तेरा कोई अपराध नहीं है, तेरी बदनसीबी ही तुझे यहाँ ले आयी और इसलिए किसी ठगिया जाल साज की बातों में आकर तू हमारे निवास को बिना जाने ही अपने पैरों से गन्दा कर रहा है।''

आकाशगामी पुरुश की ज्योंहि तर्जनाभरी वाणी जिनदत्त ने सुनी, उन्होंने शीघ्र ही अपना दक्षिण हाथ तो कमर में लिपटी हुई तलवार पर रख लिया और बायें हाथ से फलक (काष्ठ खण्ड) को थमाकर क्रोध के तीव्र आवेश में आकर नि:शंक हो कहा –

''ऐ व्यर्थ की दूर से ही बातें बनानेवाले! घमण्ड में चूर पुरुष! क्यों गीदड़ भभकी दिखा रहा है। यदि तुझमें कुछ भी सामर्थ्य है तो शीघ्र ही समीप आ! फिर देख तू कैसा मजा चखता है। आकाश में चलने-फिरने की केवल सामर्थ्य रख लेने से ही अपने को जगत में श्रेष्ठ मत समझ। आकाश में तुझ सरीखे भय से व्याकुल चलनेवाले तो पक्षी भी होते हैं। निरन्तर इन्द्रिय विषयों में लिप्त रहनेवाले इन्द्र आदि शायद तुझ सरीखे क्षुद्रों की डरावनी में आ जाते होंगे। परन्तु मैं मल्ल निर्भय मनुष्य हूँ, कभी भी तुझ सरीखों की परवाह नहीं कर सकता। यदि कुछ शक्ति रखता हो तो आ और नि:शंक हो अस्त्र छोड़। क्या तुझे नहीं मालूम? सिंह चाहे तो कितने भी प्रमाद और अनवाधता के ढंग से सोता से सोता हो, उसकी गर्दन के बाल कभी भी तुच्छ डरपोक हिरण नहीं उखाड़ सकते।''

अपने वाक्यों के उत्तर में इस प्रकार दूने क्रोध और तिरस्कार के भरे जिनदत्त के वाक्यों को सुनकर उस गगनगामी पुरुष ने नम्र हो कहा–

''हे महा सत्व के धारक निर्भय वीर पुरुष! आप क्रोध छोड़कर

प्रसन्न होइये। मैंने आपकी परीक्षा ली थी, उसमें जो कटु वाक्य निकल गये, उन्हें क्षमा कीजिये और मेरी प्रार्थना को सुनिये। जैसे– विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनपुर नाम का एक विद्याधरों का नगर है। उसमें स्वामी अशोकश्री के विजया महारानी के गर्भ से उत्पन्न शृंगारमती नाम की एक श्रेष्ठ सुन्दर कन्या है। जिस समय वह विवाह के योग्य समझी गयी और पिता ने उसके लिये विद्याधर कुमार तलाश किया तो उसने विद्याधर मात्र के साथ विवाह करने की मनाई कर दी। उसके बाद ज्योतिषी से पूछने पर मालूम हुआ कि जो समुद्र में अपनी भुजाओं से तैरता हुआ मिलेगा, वह ही इसका पति होगा। ज्योतिषी के वचनानुसार अशोकश्री महाराज ने तब से हम दोनों को यहाँ समुद्र में तैरनेवाले पुरुष को देखने के लिये नियुक्त कर दिया है। हम लोगों का नाम वायुवेग और महावेग है। आज हमारा मनोरथ सफल हुआ जो पुण्यशाली आपके दर्शन हो गये।''

इस प्रकार विद्याधर कुमारों ने अपना वृतान्त सुनाकर जिनदत्त को समुद्र बाहिर निकाला और तट पर स्नान करा वस्त्र–आभूषणों से सुसज्जित कर विमान में बैठा अपने नगर ले गये।

रथनपुर नगर के अधिपति अशोकश्री ने जिस समय कुमार जिनदत्त के स्वरूप को देखा, उस समय वह अवाक् रह गया। उसने हर्ष से रोमांचित गात्र हो सोचा – अहा! यह बड़ा ही सुन्दर युवा है। कहीं यह साक्षात् कामदेव तो नहीं आ गया। अन्यथा इस प्रकार की रूप और लावण्य की महिमा अन्यत्र कहाँ हो सकती है। अथवा संसार में एक से एक बढ़िया पुरुष रहते हैं कोई–कोई ऐसे भाग्यशाली भी हो सकते हैं, जिनकी सुन्दरता को देख कामदेव भी लज्जित हो

जाता है। जैसा मैं कन्या का वर गुणी विद्वान सुन्दर चाहता था, वैसा ही यह कन्या के पुण्यप्रभाव से मिल गया।''

इस प्रकार शृंगारमती के पिता ने जिनदत्त को सर्वथा उसके योग्य समझकर शुभमुहूर्त और शुभ दिन में विवाह कर दिया एवं जिनदत्त भी कुछ दिन वहाँ रहकर अपनी कान्ता के साथ ससुर से दिये गये उपहार को ले अपने नगर की ओर चल दिये।

छोटी-छोटी घण्टरियों के शब्दों के करने से महामनोहर लगनेवाले, ध्वजाओं से मण्डित, मोतियों की माला से सुसज्जित बहुत लम्बे चौड़े विमान में बैठकर मार्ग को तय करते हुए जिनदत्त और शृंगारमती आकाश में चले जा रहे थे कि इतने में चम्पापुरी आ गयी और रात्रि पड़ गयी। रात्रि के हो जाने से जिनदत्त ने अपनी प्यारी शृंगारमती से कहा-''प्रिये! पहले मैं सो जाता हूँ और तू जागती रहना। इसके बाद थोड़ी देर सोकर फिर कहा - मैं सो लिया अब तू सो जा। मैं यहाँ तेरे सामने ही जागकर बैठा हूँ।'' पति की आज्ञानुसार शृंगारमती जब खूब सो गई जिनदत्त कुछ अपने मन में विचार कर वहाँ से कहीं को चलते बने। कुछ समय बाद जब शृंगारमती ने करवट बदली और उसकी आँखें खुली तो अपने पति को समीप न पा चौंक पड़ी एवं निर्जन जंगल के समान सुनसान भयंकर विमान को देखकर संघभ्रष्ट हिरनी के समान इस प्रकार करुणोत्पादक रुदन करने लगी-

''हा! प्राणाधार प्रियतम! आप मुझे अबला को एकाकिनी इस शून्य प्रदेश में छोड़ कहाँ बिना कुछ कहे सुने ही चले गये। मैं आपके वियोग को क्षणमात्र भी नहीं सह सकती। यदि आप मुझसे

इस प्रकार छिपकर हँसी कर रहे हैं तो कृपाकर शीघ्र ही इस मर्मभेद मेरी छाती को फाड़नेवाली दिल्लगी को संकुचित कर लीजिये। क्यों आपको नहीं मालूम? जिस प्रकार शीतल भी पाले (हिम) का समूह मालती पुष्प की कली को मुरझा देता है, उसी प्रकार आनन्ददायी भी इस समय का यह आपका हास्य मुझे अकथनीय दु:ख पहुँचा रहा है। अथवा हे प्राणेश्वर! आपको किसी अन्य वैरी विद्याधर की कन्या ने हर लिया है, परन्तु स्वप्न में भी किसी का कुछ अनिष्ट न करने से यह भी सम्भव नहीं होता। हाँ! अब मालूम हुआ! इसमें किसी का भी दोष नहीं है, सब मेरे पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म ही मुझे फल दे रहे हैं, नियम से मैंने पूर्व भव में नि:शंक क्रीड़ा करते हुए राजहंसी राजहंस में से राजहंस को कुंकुमादि से भिन्न रंग का कर वियुक्त किया होगा। अथवा अपने रीतकाल में अपनी प्यारी से संगम को उत्सुक चक्रवाक किसी चक्रवाकी से वियुक्त कर दिया होगा। अथवा अपने भर्तार के सहवास की लोलुपी कोई अपनी सपत्नी स्त्री कामाग्नि बुझाने से किसी न किसी प्रकार रोक दी होगी। इन्हीं समस्त पापों का अवश्य ही भोग फल मुझे इस जन्म में प्राप्त हुआ है। हे नाथ! मैं इस निर्जन जंगल में रहकर क्या करूँ? यदि आप मुझे नहीं चाहते घृणा करते तो कृपाकर मुझे अपने माँ-बाप के घर छोड़ आईये, मैं यहाँ से अकेली नहीं जा सकती क्योंकि ऐसा करने से आपके वियोगजन्य दु:ख के सिवाय संसार में मेरी अकीर्ति भी होगी, मैंने आज तक अपनी समझ में कोई अपराध नहीं किया है। और यदि किया भी है तो भी कृपाकर अन्य कुछ नहीं एक बार दर्शन तो दीजिये। आप तो बड़े ही करुणावान थे, आपकी इस तरह की उपेक्षा शोभा नहीं देती।

इस प्रकार हिचक-हिचक रोने के साथ शृंगारमती विलाप कर रही थी कि इसकी ध्वनि समीप के जिन मन्दिर में रहनेवाली उन पूर्वोक्त दोनों कुमारियों के कान में पड़ी। ज्योंहि उन्होंने स्वर से किसी दु:खिनी स्त्री की आवाज पहिचानी तो वे शीघ्र ही उस ध्वनि की तरफ चलकर वहाँ आईं और बगीचे के एक वृक्ष के नीचे वनदेवी के समान शृंगारमती को रोती पा उसे समझाने लगीं। कुमारियों के यथार्थ समझाने से शृंगारमती का दु:ख बहुत कुछ घट गया और वह अपने विमान आदि को समेटकर जिन मन्दिर में चली आयी। जिनेन्द्र भगवान के भक्ति पूर्वक दर्शन कर चुकने के बाद वे तीनों एक जगह बैठीं और सबसे पहिले शृंगारमती का चरित सुन अपना चरित सुनाने लगीं एवं इस प्रकार उसे समझाने लगीं-

''सीख विद्याधर पुत्री! बहिन! शोक मत कर! शोक करने से अभीष्ट सिद्धि नहीं होती। हम दोनों भी तो तेरे ही समान पति से वियुक्त दु:खिनी हैं। इस दु:खों के खजाने रूप चतुर्गति संसार में अपने-अपने कर्मों के अनुकूल घूमते हुए प्राणियों को सैकड़ों और हजारों इससे भी महान् महाबलवान दु:ख भोगने पड़ते हैं, इसलिए विषाद करके और भी अशुभ कर्मों का उपार्जन करना उचित नहीं।'' विमलमति और श्रीमती के समझाने से विद्याधर पुत्री का शोक शान्त हो गया और वे तीनों एक साथ मिल-जुलकर पात्रदान, जिनपूजा, शास्त्रस्वाध्याय और सामायिक आदि धार्मिक कृत्यों को करती हुई समय बिताने लगीं।

★ ★ ★

हमारे चरितनायक कुमार जिनदत्त अपनी प्रियत्तम शृंगारमती को धोखा देकर नगर में भीतर गये और बौना का रूप बनाकर

इधर-उधर गाने से लोगों के मन को हरण करते हुए डोलने लगे। धीरे-धीरे इनका नगर में परिचय बढ़ने लगा और ये गन्धर्वदत्त अपना नाम बता लोगों में प्रसिद्ध हो गये। यहाँ तक कि ये एक दिन राजदरबार में पहुँचे और अपने गायनगुण से राजा को प्रसन्न कर वेतनभोगी दरबार के गवैया हो आनन्द से रहने लगे। एक दिन की बात है कि राजसभा के समय आकर एक पुरुष ने राजा से कहा - ''महाराज! इसी नगरी के एक जिनालय में तीन परमसुन्दरी नवयुवती स्त्रियाँ रहती हैं, न जाने क्या कारण है जो न तो वे कभी हँसती हैं और न कभी किसी पुरुष से बातचीत ही करती हैं, सिवा अपने धर्मध्यान के उन्हें कुछ सुहाता ही नहीं है।''

उस पुरुष की यह विचित्र बात सुन राजा ने गन्धर्वदत्त रूपधारी जिनदत्त की ओर दृष्टि फेरी। जिसके उत्तर में उसने (जिनदत्त ने) मुस्कराकर कहा-

''महाराज! जब मनुष्यमात्र शृंगार का प्रेमी होता है। तब उनकी तो क्या बात? वे तो स्त्रियाँ हैं, वे अवश्य ही होगी। मैं अपने प्रयत्न से वृक्षों तक को विकास और हास्य से सुसम्पन्न कर सकता हूँ। मनुष्य की तो फिर बात ही क्या है? तिस पर उन स्त्रियों को तो अवश्य ही कर दूँगा।''

जिनदत्त की इस प्रकार अहंकार पूर्ण बात सुनकर राजा ने कुछ आदमियों को साथ में जाने की कह उन्हें उन तीनों स्त्रियों को प्रसन्न करने के लिये भेजा और वे भी अपने पूर्व में ही किये गये संकेतों से सहित हो अपनी मण्डली के साथ-साथ जिनालय की तरफ रवाना हुए।

जिनमन्दिर में पहुँचकर जिनदत्त ने पहले तो भगवान की स्तुति

भक्ति और पश्चात गायन आदि कर अपने साथियों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर कहा – अच्छा मित्रों! यदि यही इच्छा है तो तुम लोग सब सावधान हो जाओ। मैं एक बढ़िया कथा कहता हूँ। इसके बाद अपना ही समस्त वृतान्त जो कुछ बीता था, वह वसन्तपुर से लगाकर चम्पापुरी के उद्यान में विमलमती के त्याग करने तक का कह डाला। जिसे सुनकर बीच में ही विमलमती बोल उठी–''तुम्हारी कथा तो बहुत ही अच्छी है। अच्छा! फिर उससे आगे क्या हुआ सो कहो।'' इसे सुनकर जिनदत्त के साथियों ने 'अजी! राजमन्दिर जाने का समय हो गया कल फिर आकर कहना।' आदि कहकर उन्हें रोक दिया और साथ में ले अपने स्थान चले आये। दूसरे दिन फिर आकर वामनरूपधारी जिनदत्त ने अपना चम्पापुरी के उद्यान से आगे जाने का और द्वीप से लौटते समय समुद्र में गिरने तक का वृतान्त कह सुनाया। जिसे सुनकर श्रीमती ने कहा–'हाँ! फिर उससे आगे की और कथा सुनाइये। फिर क्या हुआ? आपकी कथा बड़ी ही मनोहर है।' इसके उत्तर में क्या हम तुम्हारे अधीन हैं जो कहते ही चले जायें। अब हमारा समय हो गया अब तो राजमन्दिर जाते हैं। कहकर जिनदत्त अपनी मण्डली के साथ चले गये। और श्रीमती एवं विमला भी आश्चर्य सागर में डुबकी लगाती लगाती किसी तरह समय बिताने लगीं। इसके दूसरे दिन फिर मन्दिर में जिनदत्त आये और रथनपुर से लेकर शृंगारमती के छोड़ने समय तक का वृतान्त सुनाकर चुप हो गये। शेष अग्रिम कथा सुनाने का भी जब शृंगारमती ने आग्रह किया तो यह कहकर कि 'कल सवेरे आकर कहूँगा।' अपने स्थान चले गये। और उन तीनों स्त्रियों को प्रसन्न करने से राजा द्वारा पारितोषिक पा आनन्दित हुए।

एक दिन की बात है कि नगर में बड़ा ही जोर-शोर से कोलाहल हुआ। लोगों की कलकलाहट सुनकर राजा ने पास बैठे हुए आदमी से उसका कारण पूछा। उत्तर में उसने कहा -

''महाराज! मलयसुन्दर नाम का सरकारी हाथी अपने आलान स्तम्भ को तोड़कर मद से माता हुआ इधर-उधर नि:शंक घूमता-फिरता है। जो कोई पशु व मनुष्य उसके पंजे में अगाड़ी फँस जाता है, वह भी बेचारा बिना ही किसी विलम्ब के यमराज के मन्दिर का अतिथि हो जाता है, वह मत्त हाथी किसी को भी नहीं छोड़ता। जो कुछ उसके सामने परकोट, बगीचा, हवेली, देवालय आदि पड़ते हैं, उन्हें ही निर्दय हो ढाह देता है।''

समीपस्थ पुरुष के मुख से हाथी के इस उपद्रव को सुनकर राजा ने अनेक पराक्रमी-पराक्रमी श्रेष्ठ वीर उसे वश करने के लिये भेजे। जब किसी से भी वह शान्त न हुआ और तीन दिन तक बराबर एक-सी ही प्रजा में खलबली मची रही तो राजा ने ढोंढी पिटवाई कि - ''जो कोई पुरुष इस हाथी को वश में कर लेगा, मैं अपनी पुत्री देने के सिवा सामन्त का पद भी दूँगा।''

वामनरूपधारी जिनदत्त ने जब यह राजाज्ञा सुनी तो तत्काल ही हस्ती को वश करने की ठान ली और तदनुसार अपनी चतुराई से आगे-पीछे बगल से और पेट के नीचे से आक्रमण कर उसे वश भी कर लिया एवं उस पर सवार हो प्रजा के वाह-वाह के शब्द लूटता राजमन्दिर में पहुँच आलानस्तम्भ से उसे बाँध सुखी हुआ।

इस प्रकार श्रीमद्-आचार्य गुणभद्राचार्यविरचित जिनदत्तचरित्र के भावानुवाद में छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।।६।।

सातवाँ सर्ग

राजाज्ञानुसार जब जिनदत्त ने अपने कौशल से मत्त हाथी को वश कर लिया तो राजा ने उसे अपनी पुत्री के प्रदानार्थ मन्त्रियों से सलाह की कि 'जिस पुरुष के कुल का पता नहीं, उसे कन्या किस तरह प्रतिज्ञानुसार दी जाये?' उत्तर में मन्त्रियों ने कहा –

''महाराज! इस शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं। इस महापराक्रमशाली पुरुष की आकृति से ही इसके मातृ और पितृ कुल की शुद्धि मालूम पड़ रही है। जिस प्रकार मेघ के आच्छादन से आच्छन्न सूर्य आकाश में भ्रमण किया करता है परन्तु उसका तेज नहीं छिपता; उसी प्रकार अवश्य ही यह कोई विशुद्ध वंशोद्भव पुण्यशाली पुरुष अपने रूप को बदलकर इधर-उधर विनोदार्थ घूम रहा है। परन्तु इसका माहात्म्य किसी से छिपाये नहीं छिपता। यह महामना अपने पराक्रम, धैर्य और विज्ञान से देवों तक को आश्चर्य उत्पन्न करता है, जिसका कुल उच्च नहीं किन्तु दूषित है, उसमें ऐसे गुण नहीं हो सकते, इसलिए नि:शंक हो दोनों मातृ-पितृ कुल से शुद्ध इस पुण्यात्मा को पुत्री दीजिये। अथवा यदि इस पर भी आप राजी न हों तो इस ही से इसका कुल जाति आदि पूछ लीजिये।''

मन्त्रियों के इन वाक्यों से सम्मत हो राजा ने जिनदत्त से पूछा- 'हे सज्जन शिरोमणि! यद्यपि आकार, विज्ञान, पराक्रम और धैर्य आदि गुणों से तुम मुझे निश्चय से श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न मालूम पड़ते

हो परन्तु तो भी यह अनुमान ही अनुमान है। हमारे सन्देह को दूर करने के लिये कृपाकर प्रसन्न होईये और अपना समस्त परिचय दीजिए।' राजा के इस प्रश्न को सुनकर जिनदत्त ने कहा–

''महाराज! सच है। आपको बिना बतलाये कैसे मालूम हो सकता है। मैं बसन्तपुर के सेठ वैश्यराज जीवदेव का पुत्र हूँ। मेरा नाम जिनदत्त है। मैंने आपके ही नगर निवासी विमल सेठ की एक विमलमति नाम की पुत्री को ब्याहा है। उसके बाद सिंहलद्वीप के राजा की पुत्री और उसके बाद विद्याधरों के अधिपति अशोकश्री की पुत्री के साथ भी विवाह किया है। वे मेरी तीनों स्त्रियाँ इसी चम्पापुरी नगरी के जिन मन्दिर में रहती हैं। और मेरे संगम की वाट देख रही हैं। देव! मैंने इस जन्म में बहुत सी तो विपत्ति झेली है और बहुत सी सम्पत्तियों का भोग किया है एवं अनेक विद्याओं को प्राप्त कर इस जगह अनेक क्रीड़ायें की हैं।''

जिनदत्त का यह वृतान्त सुन और उसके अभिप्राय को जानकर राजा ने उन जिनमन्दिरवासिनी तीनों स्त्रियों को बुला भेजा एवं वे भी कंचुकियों के साथ–साथ राजसभा में आ उपस्थित हो गई। उन्हें देख राजा ने बड़े प्यार से पास में बैठाकर जिनदत्त को लक्ष्यकर कहा–''हे महासती पुत्रियों! यह पुरुष तुम्हें अपनी पत्नी स्त्री बतलाता है। क्या यह सच है?'' उत्तर में उन तीनों ने एक–दूसरे का मुँह देखकर कहा – 'हे पिता! ये उनका केवल वृतान्त जानते हैं, परन्तु वे नहीं हैं।' अपनी स्त्रियों की यह बात सुन जिनदत्त को हँसी आ गई, परन्तु वे कपड़े से उसे छिपा गये। इधर राजा ने यह अचम्भे की बात सुनकर फिर कहा–''पुत्रियों! देखो! खूब सोच समझकर

बतलाओ। क्या वास्तव में ही यह तुम्हारा पति नहीं है?'' राजा की बात सुनकर पुत्रियों ने फिर भी यही उत्तर देकर कहा–महाराज! अन्य की तो क्या बात? इनका और उनका तो रंग में भी सादृश्य नहीं है, अब अधिक देर तक इस प्रकार ही उलझन में डाले रहना उचित न समझ जिनदत्त ने अपना रंग वही रख सांचारूप दिखा दिया। अब तो वे तीनों स्त्रियाँ आश्चर्य में मग्न हो लज्जित हो गयीं और राजा से बोली 'तात! ये ही हमारे पति हैं परन्तु केवल रंग में ये काले हैं और वे पीले थे।' स्त्रियों की यह बात सुन जिनदत्त ने अपना रंग भी बदल डाला। यह देख उनसे न रहा गया, वे मोह से रोमांचित हो शीघ्र ही पति जिनदत्त के पैरों में पड़ गयीं और जो विरहाग्नि रात–दिन हृदयों में धड़क रही थी, उसे आनन्दाश्रुओं से बुझाकर शान्त हुईं। उस समय जो पति के मिलने से उन्हें हर्ष हुआ वह अकथनीय है–उसे कोई नहीं कह सकता। अपनी चिरवियुक्त पत्नियों से मिलकर जिनदत्त को भी हर्ष हुआ और उस समय का सा उनका यथायोग्य सत्कार कर पास में बिठा लिया।

विमलमति के पिता सेठ विमल को जब यह समाचार मालूम पड़ा कि उनके जमाई मिल गये हैं तो वे शीघ्र ही राजसभा में आये और राजा को नमस्कार कर जिनदत्त के आलिंगनादि से परमहर्षित हो उन्हें क्षेमकुशल पूछने लगे। यथायोग्य सत्कारादि के बाद मौका देखकर राजा से विमलसेठ ने जिनदत्त को अपने घर जाने के लिये सम्मति प्रदान करने को कहा। उत्तर में पहिले तो राजा ने बहुत सी मनाई की, परन्तु जब सेठ का अधिक आग्रह देखा तो भेजने के लिये राजी हो गये। राजाज्ञानुसार जिनदत्त को उनकी स्त्रियों सहित अपने घर लाकर सेठ विमल ने उनका खूब ही सत्कार किया और

गीत वादित्र आदि से मंगलाचार प्रारम्भ कराया। यह देखकर नगर की बहुत सी स्त्रियाँ जिनदत्त से मिलने आईं और कुशलक्षेम पूछकर सन्तुष्ट हुईं। समस्त मांगलिक विधियों के समाप्त हो जाने पर जिनदत्त ने अपने सासु-ससुर आदि को अपनी भ्रमणकथा सुनाई और अपनी प्रियतमाओं से उनकी बात पूछी। इसके बाद जिनपूजा, अभिषेक आदि धार्मिक उत्सव कर दीन-दरिद्रियों को उनकी इच्छा और आवश्यकतानुसार दान दिया।

चम्पानगरी के राजा ने सब प्रकार से सन्तुष्ट हो जिनदत्त के साथ अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार शुभमुहूर्त, शुभ लग्न और शुभ दिन में शुभविधि से अपनी कन्या का विवाह कर दिया एवं बहुत से वस्त्र आभूषण और देश भेंट में दे, इसे सबसे उत्तम सामन्त कर दिया।

जब कुमार जिनदत्त राजसम्मान से सम्मानित और यथेष्ट धनाढ्य हो गये तो उन्होंने अपने पिता के पास साथ में नाना द्वीपों के नाना रत्नों को देकर सन्देशवाहक भेजे। जिनसे अपने इकलौते पुत्र के सुख समाचार पा सेठ जीवदेव को अपार आनन्द हुआ। जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय से समुद्र अपने अंग में नहीं समाता, बढ़कर आगे बढ़ जाता है। उसी प्रकार सेठ जीवदेव का हर्ष हृदय में न समा रोमांचों के छल से बाहर निकल पड़ा। उन्होंने शीघ्र ही कुछ आदमी अपने पुत्र जिनदत्त के पास उन्हें लिवाने भेजे और उन्होंने भी पहुँचकर आदर से जिनदत्त की सेवा में इस प्रकार निवेदन किया-

''हे सर्वोत्तम! आपके पिता आपके वियोग में सूख-सूखकर बिल्कुल कान्तिहीन हो गये हैं। उन्हें आपकी याद में खाना-पीना

तक नहीं सुहाता। आपकी माता तो आपके पास न होने से रात-दिन रोया ही करती हैं, उनकी गण्डस्थली सदा आँसुओं के प्रवाह से भीगी और आँखों में माँजे गये काजल के बहने से काली ही रहती हैं और भी अन्य जो आपके कुटुम्बी हैं, वे भी सब आपकी विरहाग्नि से संतप्त हो दु:ख पा रहे हैं एवं सब आपके मुखचंद्र को देखने के लिये लालायित हो रहे हैं, इसलिए आपके पिताजी ने हमें आपकी सेवा में भेजा है, कृपाकर शीघ्र ही चलिये और अपने संयोग से सबको सुखी बनाईये।''

अपने पिता के पास से बुलाने के लिये आये हुए आदमियों के सन्देश को सुनकर जिनदत्त से भी न रहा गया। उनका हृदय भी अपने माता-पिता और कुटुम्बियों से मिलने के लिये लालायित हो गया। उन्होंने शीघ्र ही अपने ससुर से और राजा से अपने नगर की ओर जाने की सम्मति माँगी एवं उसके मिल जाने पर अपनी समस्त स्त्रियों और परिवार के साथ मनोहर विमान में सवार हो वे ठाठ-बाट के साथ चल दिये।

महासामन्त जिनदत्त उत्साह और सुख के साथ अपने नगर की ओर रवाना होकर शीघ्र ही अपने पिता के पास जा पहुँचे और पिता ने भी बड़े भारी उत्सव के साथ चारों बहुओं के संग हर्षसहित इनका घर में प्रवेश कराया।

इस प्रकार श्रीमान् भगवद् गुणभद्राचार्यविरचित जिनदत्त के भावानुवाद में यह सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ।।७।।

आठवाँ सर्ग

उस समय होनेवाले समस्त मांगलिक चिह्नों से भूषित गृह में प्रवेश कर जिनदत्त ने माता को प्रणाम किया और वह भी अपने चिरवियुक्त पुत्र को देखकर रोने लगी। माता की यह दशा देख जिनदत्त ने उसे अच्छी तरह धैर्य दे समझाया और उसके बाद क्रम-क्रम से अपनी वृद्धाओं को प्रणाम कर उनकी आशीषें ग्रहण करके भद्रासन पर बैठ गये। इसके बाद नगर की तथा कुटुम्ब की स्त्रियों ने उनके ऊपर अक्षत बिखेरे और सैकड़ों गाजों-बाजों के साथ मंगल गीत गाये। इस प्रकार जिनदत्त के जब मंगलाचार और आदर सत्कार हो चुके तो उनकी श्रीमती, विमलमति आदि स्त्रियों ने भी अपने-अपने क्रम से अपनी वृद्धाओं के पैर आदि छूए और उन्होंने भी उनका यथायोग्य सत्कार किया।

जब समस्त घर का उत्सव समाप्त हो गया तो जिनदत्त अपनी प्रियतमाओं के साथ नगर के समस्त जिनमन्दिरों की वन्दना के लिये गये और गुरुओं के चरणकमलों में भक्ति से नमस्कार कर जब लौट आये तो दीन दरिद्रियों को उनकी आवश्यकतानुसार यथेष्ट दान दिया। वसन्तपुर के नृपति चंद्रशेखर ने जब इनकी लोगों के मुख से प्रशंसा सुनी तो उसने भी खूब आदर सत्कार किया जिससे कि राजसम्मान और प्रजासम्मान दोनों के साथ स्वर्ग के देवों के समान अपने नगर में इन्द्रिय सुखों को भोगते ये काल बिताने लगे।

जिनदत्त आजकल के से धनाढ्य युवकों के समान निरन्तर

इन्द्रिय विषयों के लोलुपी सर्वदा उसी के भोगने में अनुरक्त रहनेवाले न थे, उन्हें अपने धर्मध्यान का भी पूरा ख्याल था। वे जिस प्रकार भोग सामग्रियों के एकत्र करने के लिये द्रव्य खर्चते थे, उसी तरह बगीचे, बावड़ी आदि से शोभित जिनमन्दिरों के निर्माण कराने में खूब धन लगाते थे। श्रावक, श्राविका, आर्यिका और मुनियों को उनकी अवस्था के अनुकूल यथेष्ट चारों प्रकार का दान देते थे, विशेष-विशेष पर्व के दिनों में अनेक श्रावकों को साथ में ले जिनमन्दिरों में जा-जाकर भगवान का पूजन अभिषेक करते थे और तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों की भूमि में जा जाकर चारणऋद्धिधधारी आदि मुनियों के दर्शन कर उनसे धर्मोपदेश सुनते थे।

हमारे चरितनायक के इस तरह धार्मिक कृत्यों के करने से अन्य समस्त नगर निवासियों पर बड़ा ही प्रभाव पड़ता था। वे इनके धनाढ्य होने पर भी प्रबल धार्मिक भाव को देखकर खूब ही धर्म ध्यान करने में दृढ़ हो जाते थे। धर्म के प्रभाव से जिनदत्त के हाथी, घोड़ा, रथ, गाय, सोना, चाँदी आदि सब प्रकार की सम्पत्ति यथेष्ट हो गई थी। जिस प्रकार समुद्र में तरंगों का पता नहीं लगता कि कितनी आई और कितनी गई, उसी प्रकार जिनदत्त की सम्पत्तियों की गिनती न थी। पुत्र इनके पहिली स्त्री विमलमती से तो सुदत्त और जयदत्त थे; श्रीमती से बसंतलेखा पुत्री और सुप्रभ पुत्र था; विद्याधर पुत्री शृंगारमती से सुकेतु, जयकेतु और गरुड़केतु तो पुत्र एवं विजयमती पुत्री उत्पन्न थी। तथा चौथी स्त्री (चंपानगरी के महाराजा की पुत्री) से सुमित्र, जयमित्र, वसुमित्र तो पुत्र एवं प्रभावती नामक की पुत्री थी। इस तरह कुल मिलाकर इनके नौ तो पुत्र थे और तीन पुत्रियाँ थीं एवं उनके सबके यथायोग्य रीति से अपनी

अवस्थानुसार ठाठ-बाठ से जन्मोत्सव नामकरण एवं विवाह आदि उत्सव कराये थे।

इस तरह धर्म, अर्थ और काम तीनों को समान रीति से पालते हुए जिनदत्त का समय बीत रहा था कि एक दिन शृंगारतिलक नामक उद्यान से माली ने वहाँ सब ऋतुओं के एक साथ फलफूल आये देख आश्चर्य में मग्न हो आकर इनसे कहा-

''श्रेष्ठिन्! बड़े ही आनन्द और उत्सव की बात है कि आज प्रात: काल मति, श्रुति, अवधि और मन:पर्यय चार ज्ञान के धारक समाधिगुप्त नाम के मुनिमहाराज हमारे शृंगारतिलक नाम के बगीचे में पधारे हैं और उनके प्रभाव से उनकी सेवा करने के लिये ही मानो वहाँ छहों ऋतु आ उपस्थित हो गई हैं जो कि असमय में ही समस्त वृक्ष फल-फूलों से लदबदा गये हैं। महाराज! और की तो क्या बात? जडाशय (जलाशय जल के स्थान) तालाब भी उनके आगमन की खुशी में अपने कमलरूपी नेत्रों को फाड़-फाड़ कर इधर-उधर देख रहे हैं। शब्दकर गुंजारते हुए भ्रमर पुष्पों की सुगन्धि के लोभ से इधर-उधर घूम रहे हैं। सो वे मुनि के भय से रोकर भागते हुए पाप सरीखे मालूम पड़ते हैं। आम्रवृक्षों के ऊपर नवीन मंजरी के आ जाने से उसके भक्षण करने से मत्त हुई कोकिलायें जो शब्द करती हैं, वे मुनिदर्शन के लिये भव्यों को बुलाती सरीखीं मालूम पड़ती हैं। जो लताएँ बंध्या थीं जिन पर कभी आज तक फलफूल न आये थे, वे भी आज मुनि के माहात्म्य से फल पुष्पों से व्याप्त दीख रही हैं। जिस प्रकार बड़े भारी आनन्द में आकर स्त्रियाँ अपने हाव-भाव अंगचालन आदि पूर्वक नृत्य करती हैं, उसी प्रकार उस उद्यान की लताएँ भी मन्द सुगन्ध पवन से प्रेरित हो मुनिदर्शन के आनन्द से

भरपूर के समान अपनी कुसमांजलि को बिखेर कर उत्सव करती मालूम पड़ती हैं। देव! इस प्रकार आश्चर्य को करनेवाली महिमा के धारक वे मुनि महाराज अकेले नहीं हैं, उनके साथ अन्य भी बहुत से भिन्न-भिन्न ऋद्धियों के धारक, धर्म की जीती जागती मूर्तियों के समान अनेक मुनि हैं, जो कि समस्त पापों के नाशक, स्वाध्याय और ध्यान कर्म में सर्वदा संलग्न रहते हैं।''

इस प्रकार वनपाल के मुख से चार ज्ञान के धारक समाधि गुप्ति मुनि महाराज के आगमन का वृत्तान्त सुनकर जिनदत्त को अपार हर्ष हुआ और अपने आसन से जिस दिशा में मुनि महाराज विराजमान थे, उसी में सात पैड़ जाकर उन्हें भक्तिभाव से परोक्ष नमस्कार किया। इसके बाद अपने भाई-बन्धुओं के साथ-साथ उस समय के योग्य वाहन में सवार हो शृंगारतिलक बगीचे की ओर मुनिदर्शन के लिये चल दिये।

जिस समय उद्यान थोड़ी दूर रह गया तो हमारे चरितनायक और उनके साथी विनय से नम्र हो अपनी-अपनी सवारियों से उतरे और वहाँ से पैदल ही जहाँ पर मुनिमहाराज थे, पहुँचे। मुनिराज अशोकवृक्ष के नीचे एक निर्मल शितातल पर विराजमान थे, उनके समीप पहुँचकर जिनदत्त ने उनकी तीन प्रदक्षिणायें दीं। भक्ति भाव से स्तुति पढ़ी और यथाक्रम से अन्य मुनियों को भी नमस्कारादि कर हाथ जोड़े ही यथास्थान पर बैठ गये। जिनदत्त और उनके साथियों को आया देख उनके नमस्कारादि कर चुकने के बाद मुनि महाराज ने भी उन्हें पुण्यांकुर के समान अपनी दाँतों के किरणों से सभा को शुक्ल करते हुए धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया। इस प्रकार जब समस्त

परस्पर का कर्त्तव्य हो चुका तो जिनदत्त ने भक्तिभाव से नम्र होकर कहा–

''हे तीनों जगतों के नाथ! हे सर्वश्रेष्ठ!! हे मुनिराज!!! आज मेरा बड़ा ही अहोभाग्य है जो आपके पवित्र दर्शन मुझे हो गये। अन्यथा मुझ सरीखे मूढ़बुद्धि पापियों को आपके शुभदर्शन कहाँ? महाराज! यह संसार मोहरूपी अन्धकार से सघन व्याप्त है, इसको आप सरीखे महामना तपस्वियों की वचन किरणों के प्रकाश से ही पार किया जा सकता है। यदि आप सरीखे सर्वदा मूढ़ता के नाशक देदीप्यमान रत्नदीपक इस मोह के पूर्ण संसार में नहीं हों तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि समस्त ही प्राणी मरण रूप अन्धे कुँए में गिरकर अपने अनन्त ज्ञान आदि प्राण गंवा बैठें। इन्द्रिय विषयों के भोगने की लालसा रूप अग्नि से निरन्तर जलनेवाले इस संसार में आप सरीखे सच्चे अमृत बरसानेवाले मुनि मेघों का भव्यों के पुण्यप्रताप से ही उदय होता है। जो मनुष्य आपके पवित्र चरण कमलों की एक बार संगति पाकर भी संसार के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझता, वह मन्दभाग्य मूढ़ रत्नों के खजाने रूप समुद्र के पास जाकर भी रत्नों को ग्रहण न कर शंख को ही ग्रहण करता है। हे देव! जिस जगह सूर्य और चन्द्रमा की तीक्ष्ण किरणें प्रविष्ट हो अन्धकार दूर कर पदार्थ दिखा नहीं सकती, वहाँ भी आपका ज्ञानरूप चक्षु अपने प्रभाव से पदार्थ देखता है। इसलिए हे नाथ! संसार समुद्र के पार करानेवाली आपकी कृपा के द्वारा मैं अपने पूर्व का भव का समस्त वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। हे योगीन्द्र! मैंने किस कर्म के द्वारा तो अपार सम्पत्ति पा सुख भोगा और किसके द्वारा विपत्तियाँ झेली एवं किस तरह दूर-दूर देश में उत्पन्न होनेवाली इन चार स्त्रियों का संगम हुआ।''

जिनदत्त के इस अपने पूर्व भव के वृत्तान्त को जानने की इच्छावाले प्रश्न को सुनकर मुनिमहाराज बोले –

'हे महाभव्य! तुमने जो अपने पूर्वभव पूछे हैं, वे ठीक हैं। परन्तु इस अनादि–अनन्त चतुर्गतिरूप संसार में कर्मों के अधीन हो सुख सरीखे लगनेवाले वास्तविक दु:खों को भोगते हुए प्राणियों को अनंत काल बीत चुका है। उस गत समय में जो मनुष्य, तिर्यंच, नारकी और देवों के अनन्त जन्म धारे हैं, उनको केवली सर्वज्ञ भगवान भी जानते तो हैं परन्तु कह नहीं सकते। इसलिए तुम्हारे पूर्व के अन्य भवों को छोड़कर इस जन्म से पहिले जन्म को ही कहता हूँ। और उसी भव में तुम्हारा कल्याण भी हुआ है। तुम सावधान हो मन लगाकर सुनो।

★ ★ ★

इसी जम्बूद्वीप के बीच जो यह भरतक्षेत्र है, उसमें अपनी शोभा से स्वर्ग को भी लजानेवाला अवंति देश है। वहाँ पर भ्रमर गुणशालीधान्यों के केदारों पर उनकी सुगन्धी से मत्त हो होकर जाते हैं। सो ठीक ही है जिन लोगों के दोनों पक्ष (मातृ–पितृ कुल पंख) मलिन (काले) हैं, वे केदार–कौन लोग दारों पर स्त्रियों से पराङ्मुख होते हैं। उस देश में जगह–जगह जलाशय–तालाब हैं और वे श्रीकृष्ण सरीखे मालूम पड़ते हैं, क्योंकि जिस प्रकार श्रीकृष्ण चक्र–अस्त्र विशेष से शोभित राजहंसों में श्रेष्ठ राजाओं से सेवित और पद्मा लक्ष्मी से आढ्य सहित हैं, उसी प्रकार वे तालाब भी चक्र–चक्रवी से शोभित, राजहंसों से सेवित, और पद्मों से सहित हैं, वहाँ की प्रजा श्रेष्ठ कवि की कविता के समान गुणवाली है, जिस प्रकार कवि की कविता रस से सरस रसवती होती है, उसी प्रकार प्रजा भी

सरस आनन्द भोगनेवाली है। जिस प्रकार कविता अलंकार शब्दालंकार प्रभृति काव्य के अलंकारों से भूषित होती है, उसी प्रकार वहाँ की प्रजा भी श्रेष्ठ-श्रेष्ठ अलंकार भूषणों से सुशोभित है। कविता जिस प्रकार व्यक्त वर्ण व्यवस्थिति-वर्णों की स्पष्टता से व्यक्त होती है, उसी प्रकार वहाँ की प्रजा भी वर्ण-ब्राह्मण आदि वर्णों की व्यक्त स्थिति से रहित सहित है और जिस प्रकार कविता प्रसादौजौयुता प्रसाद ओज आदि काव्य के गुणों से युक्त रहती है, उसी प्रकार वहाँ की प्रजा भी प्रसन्नता तेजस्विता आदि गुणों से सर्वदा युक्त रहती है।

इस प्रकार की शोभा से शोभित उस अवंति देश में उज्जयिनी नाम की एक नगरी है। उसके चारों ओर एक परकोट है और उसके चारों ओर एक खाई है जो कि परकोट के शिखर में लगे हुए पद्मरागमणियों की किरणों की कान्ति से चकवा चकवियों की विरह व्यथा को सर्वदा हरण किया करती और सूर्य के उदय अनुदय की उन (चकवा चकवियों) को कुछ भी चिन्ता नहीं करने देती। उस नगरी के प्रासादों में लगी हुई नीलमणियों की कान्ति से शवल हुआ चन्द्रमा सर्वदाही रात्रियों में स्वच्छन्दचारिणियों के हर्ष को करता रहता है एवं वह नगरी ब्रह्मा से पुण्यात्मा लोगों के लिये समस्त सम्पत्तियों की जन्मभूमि सरीखी बनायी गयी मालूम पड़ती है।

उस उज्जयिनी नगरी का एक छत्राधिपति विक्रमधर्म नाम का राजा था, जिसका कि समस्त संसार में निर्मल यश विस्तृत था और जिसके प्रताप से ही शत्रु लोगों के वशीभूत हो जाने से चतुरंगबल केवल शोभा के लिये ही था। उस विक्रम धर्मराजा के पद्मश्री नाम की सर्वस्त्रियों के गुणों से भूषित परम सुन्दरी पट्टरानी थी। इसी राजा के धर्मराज्य में धनदेव नाम का एक अतिधनाढ्य सेठ रहता था

और उसके कुल एवं शील से पवित्र परम रूपवती, गृहस्थी के समस्त कार्यों में सुचतुर यशोमती नाम की स्त्री थी। ये सेठ-सेठानी अपने पूर्वपुण्य के प्रभाव से मनमाने सांसारिक सुख भोगते थे। कुछ काल के बीतने पर उनके तुम पुत्र हुए और तुम्हारे पिता ने अपने भाई-बन्धुओं के साथ उत्सव कर शिवदेव नाम रखा। तुमने उससे पहिले जन्म में घोर पाप किये थे, इसलिए शिवदेव के भव में वे उदय में आये और उसी के कारण ज्यों-ज्यों तुम बढ़ने लगे, त्यों-त्यों कुटुम्बियों की घटवारी के संग संग तुम्हारे पिता का धन भी घटने लगा। आखिर एक दिन ऐसा पाप का उदय आया कि बाजार की सड़क पर आकाश से टूटकर बिजली गिरी और उसके नीचे दबकर तुम्हारे पिता परलोक सिधार गये। तुम्हारे पिता की मृत्यु होने पर दु:खित हो कुटुम्बियों ने उनकी दाहक्रिया कर दी और समय बीतने पर उन्हें भुला भी दिया परन्तु तुम्हारी माता को बड़ा ही कष्ट पहुँचा, वह बिलख-बिलख कर रोने लगी।

'हाँ नाथ! हा इस अभागिनी के प्राणाधार!! पतिदेव!!! तुम मुझे छोड़ कहाँ गये? यदि तुम्हें मेरी कुछ भी चिन्ता न थी तो इस नन्हें बाल चन्द्र के समान सुन्दर अपने इकलौते पुत्र की ही चिन्ता तो की होती। हाँ! अब मैं आपके बिना इस संसार में कैसे जिऊँगी! किस तरह इस नन्हें बालक को पाल पोसकर बड़ा कर सकूँगी? हा! मेरी समस्त ही आशायें मिट्टी में मिल गयीं। मैं किसी भी काम की न रही। आपके बाद जो कुछ थोड़ी बहुत मेरी मदद करता, वह धन भी तो आपके ही साथ चला गया। मैं बड़ी ही मन्दभागिनी हूँ। हे देव! अब कैसे मेरी जीवन यात्रा पूरी होगी।'

इस प्रकार नाना विलापों को कर तुम्हारी माता किसी प्रकार

कुटुम्बियों के समझाने-बुझाने से शान्त हुई और अगत्या गृह कर्मों को करती तुम्हें पाल पोसकर बढ़ाने लगी और तुम भी बहुत ही दु:ख से दीनता पूर्वक दिन दिन बढ़ने लगे। जब तुम कुछ बड़े हुए तो तुम्हारा तुम्हारी माता ने किसी वैश्य की कन्या के साथ विवाह कर दिया और तुम वणिज्या (वणिजी) के लिये दूसरे-दूसरे गाँवों में जा-जाकर कुछ द्रव्य उपार्जन करने लगे एवं एक दिन की वणिज्या से तीन दिन तक अपने कुटुम्ब का भरण पोषण करने लगे।

एक दिन की बात है कि तुम बहुत सवेरे ही वणिजी के लिये दूसरे गाँव को जा रहे थे कि रास्ते में पीपल वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ एक मुनि महाराज तुम्हें दिखलाई पड़े। वे मुनि सामान्य मुनि न थे। तीनों काल (प्रात:, मध्याह्न और सायं समय) योग धारण करते थे, सर्व प्राणियों के हितैषी थे, अपनी चिदानन्द आत्मा के ध्यानी, सांसारिक इच्छारहित, मान से शून्य थे, कर्मों के आस्रव और बन्ध के विध्वंस करने में लीन, मनोगुप्ति, वचोगुप्ति और कायगुप्ति के धारक, समितियों से दैदीप्यमान, शान्तस्वरूपी थे। मुरजबन्ध आदि व्रतों के धारण करने से कृश शरीरवाले होकर भी पाँच इन्द्रिय और प्रबल मन की दुष्टता को रोकने में यथेष्ट शक्तिवाले थे, महीने, दो-दो महीने के उपवास कर सम्पूर्ण इन्द्रियों को रोक पर्यकासन मांड अपनी आत्मा के शुद्धस्वरूप के चिन्तन में लवलीन हो जानेवाले थे और परोक्ष समस्त पदार्थों के ज्ञाता थे। उनका पवित्र नाम मुनीन्द्र विमल था। उन्हें देखकर तुम्हारे हृदय में स्वाभाविक भक्ति का स्रोत फूट उठा। तुमने हर्षित हो अपनी बनिजी की बकुचिया को तो उतारकर एक ओर रख दिया और मुनि के पैरों में पड़ नमस्कार कर यह सोचा-

''आहा! संसार में दो ही पुरुष धन्य हैं और वे ही वास्तव में किसी प्रकार सुखी भी हैं एक तो वे जो कि निष्कटंक एकछत्र पृथ्वी का राज करते हैं और दूसरे वे जो कि जितेन्द्रिय तपस्वी हैं। अथवा तपस्वी के साथ चक्रवर्ती का सामन्य मिलाना योग्य नहीं। तपस्वी की अपेक्षा चक्रवर्ती को किंचिन्मात्र भी सुख नहीं है क्योंकि पहिला तो राग-द्वेष से रहित आत्मसुखभोजी है और दूसरा राग-द्वेष के सर्वदा अधीन विनाशीक इन्द्रिय सुख का अनुभव करनेवाला है।''

इस प्रकार भक्ति भाव से नम्रीभूत हो तुम हर रोज प्रात: काल आने की मन में इच्छाकर अपनी कार्यसिद्धि के लिये चले गये और प्रतिदिन उसी प्रकार आने-जाने लगे।

कुछ दिन बाद मुनि महाराज के योग समाप्त होने का दिन आया और उपवासों का अन्त होने से पारणा का दिन हुआ तो उससे पहिले ही तुमने अपने मन में गुणों का ज्ञाता होने से यह विचारा कि-

''अहा! ये अद्वितीय तपस्वी यतिदेव आज पहले पैरों की धूली से किसके घर को पवित्र करेंगे। किस मनुष्य के भाग्य का सितारा इतना देदीप्यमान होगा, जिसको ये कल्याण का भाजन बनायेंगे। जिस मनुष्य के यहाँ ऐसे-ऐसे उत्तम पात्र अपना आतिथ्य स्वीकार करते हैं, उसके किसी भी ऐहिक और पारलौकिक सुख की सामग्री की त्रुटि नहीं रहती। वह अवश्य ही उत्तम से उत्तम भोगों का पात्र बन जाता है। इन मुनि सरीखे उत्कृष्ट पात्रों को थोड़े से थोड़ा भी यदि निर्दोष भक्ति द्वारा दान दिया जाये तो संसार में ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है जो इच्छा करने मात्र से इस जन्म की तो क्या बात, पर

जन्म में भी प्राप्त न हो जाये। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने मात्र से अन्धकार विलीन हो जाता है; उसी प्रकार ऐसे तपस्वी महात्माओं के दर्शनमात्र से पापों का समुदाय समूल नष्ट हो जाता है। फिर यदि दान आदि की सहायता से इनका संगम प्राप्त कर लिया जाये तो कहना ही क्या है? जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठती हैं और फिर विला जाती हैं, उसी प्रकार मुझ मन्द भाग्य की इच्छाएँ मन में उठती है और बिना पूर्ण हुए ही विला जाती हैं। जिस मनुष्य का पुण्य नष्ट हो गया है अथवा है ही नहीं, उसके घर को तपस्वी मुनिराज अपने चरण-कमलों से पवित्र नहीं करते, सो ठीक ही है बिना उत्कृष्ट पुण्य के कल्प वृक्ष ही कब किसके घर होते देखे व सुने गये हैं। जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न पापियों को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार इन सरीखे मुनियों को दान देने का समागम भी बिना उत्कृष्ट पुण्य के प्राप्त नहीं होता। यद्यपि ऊपर विचारी गयी बातें सब ठीक हैं, तथापि कौन कह सकता है कि उस पुण्य का उदय मेरे कब हो जाये और है या नहीं, इसलिए मुझे उनके आगमन की प्रतीक्षा में सावधान रहना चाहिए क्योंकि परिश्रम के करते रहने से ही मनुष्यों को विपुल फल की प्राप्ति होती है।'' इस प्रकार नाना तर्क-वितर्कों को करता हुआ वह वैश्य धोये हुए निर्मल धोती-दुपट्टे को पहिनकर अपने घर के दरवाजे पर खड़ा हो गया और उन महातपा मुनिराज के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा।

मुनिराज पारणा के लिये नगर में पधारे और उनके ऊँचे नीचे उस नगर के महल मकानों को नंबर बार छोड़ते हुए, उस वैश्य के पुण्य द्वारा प्रेरणा किये हुए के समान उसी की तरफ आने लगे। मुनिराज को अपनी तरफ आते देखकर शिवदेव ने अपना बड़ा ही

भाग्य समझा, जिस प्रकार दरिद्र को निधि की प्राप्ति होने से अपार हर्ष होता है, उसी प्रकार असीम हर्ष हुआ और देहधारी पुण्य के पुंज के समान उन्हें अपने घर आते देखा। घर के पास मुनिराज के आते ही शिवदेव उठा, उनका पड़गाहन किया, और ऊँचे आसन पर विराजमान कर उनके चरणों का प्रक्षालन अपने हाथों किया। इसके बाद अष्ट प्रकार की पूजा कर नवधा भक्ति से आहार देने लगा। इसी बीच में सुरदेव, यशोदेव और नन्ददत्त वैश्यों की पद्मावती, जयश्री, सुलेका और मदनावली नाम की पुत्रियाँ सम्पूर्ण आभूषणों से भूषित होकर साथ में हलुआ ले इसकी माता के घर आयीं और सब एक जगह बैठ गयीं। शिवदेव ने उनके लाये हलुवे में से उन मुनिराज को कुछ दिया और उनके इस व्यवहार से वे वैश्य पुत्रियाँ बहुत ही सन्तुष्ट हुईं, उन्होंने सोचा कि यह बुद्धिमान धन्य है, इसके यद्यपि धन नहीं है, वणिजी से अपना पेट भरता है, तथापि धार्मिक कार्यों के करने का उत्साह उसका बहुत ही प्रशंसनीय है। जिन महात्मा के चरण-कमलों के दर्शन को बड़े-बड़े राजे-महाराजे तरसते हैं परन्तु पा नहीं सकते, उनके दर्शन की तो क्या बात? इसने उन्हें दान दिया है। ऐई लक्ष्मी! क्या तू सचमुच ही अन्धी है जो इस गुणशाली, सात्विक पुरुष को नहीं अपनाती? इस पर कृपा नहीं करती।

इसके बराबर अन्य किसी का भी अवश्य ही पुण्य नहीं है, नहीं क्या भला! ये सर्व साधारण को दुर्लभ त्रिलोकीनाथ इसके घर स्वयं आते!'' इस प्रकार मन में सोच-विचार कर उन वणिक पुत्रियों ने उस पात्रदान की खूब ही अनुमोदना की और बार-बार उस शिवदेव को तथा मुनिराज को भक्ति भरे नेत्रों से देखा। तुझ (शिवदेव) ने भी भक्तिरस से पूर्ण मन को मुनि को आहारदान दिया परन्तु माता

कदाचित् आकर कुछ विघ्न न कर दे, इस भय से शंका बनी ही रही। आहार ले मुनिराज तो वन की तरफ विहार कर गये और वह बनिया थोड़ी दूर उनके पीछे जाकर अपने घर लौट आया।

'भद्र! जो तुमने किया, वह किसी से नहीं हो सकता, तुम निश्चय ही समस्त सम्पत्तियों के घर हो'-इस प्रकार बार-बार प्रशंसा करती हुई वे चारों वैश्य पुत्रियाँ अपने-अपने घर चली गयीं। उसके बाद 'मैं प्रतिदिन मुनियों को भोजन कराकर स्वयं भोजन करूँगा' इस अभिलाषा से वह प्रतिदिन प्रतीक्षा करने लगा और क्रम-क्रम से काल बीतने पर उनकी मृत्यु हो गयी। इसी प्रकार शिवदेव के साथ दान की अनुमोदना करनेवाली चारों वणिक पुत्रियाँ भी अपने-अपने भाग्यानुसार सुख भोगती हुई मरण को प्राप्त हुईं।

इस प्रकार श्रीमान् भगवद् गुणभद्राचार्यविरचित संस्कृत जिनदत्त चरित्र के भावानुवाद में यह आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।।८।।

नौवाँ सर्ग

इसके बाद शिवदेव मरकर दान के प्रभाव से तू जीवदेव सेठ का पुत्र जिनदत्त हुआ। तुझे जो कुछ भी सुख प्राप्त हुए हैं, वे सब उसी दान के माहात्म्य से हुए हैं क्योंकि पात्रदान से सबही सुख प्राप्त होते हैं। तूने पहिले भव में पद्मावती आदि वैश्यपुत्रियों के अनुराग में अपने मन को लगाया था, इसलिए अन्य स्त्रियों में तेरा अनुराग नहीं हो पाया। दान देते समय जो हृदय में माता के आ जाने की शंका से संक्लिष्टता आ गयी थी, उससे जो भक्ति में न्यूनता हो जाने से पुण्य में न्यूनता हो गयी थी, उसी से ही बीच में अनर्थों की परम्परा तुम्हें प्राप्त हुई, उसके अन्त होने पर उत्कृष्ट सम्पत्ति के साथ-साथ अपने परिणाम के अनुसार पूर्व भव की चारों कन्यायें तुम्हारे स्त्रियाँ हुईं जो कि चम्पा में सिंहलद्वीप में और रथनपुर में अच्छे-अच्छे घरानों की बेटियाँ होकर विमलमती, श्रीमती, शृंगारमती और विलासमती के नाम से प्रसिद्ध हुईं। उन्होंने तुम्हारे सिवा अन्य पुरुष के साथ विवाह करने की इच्छा न की, इसलिए तुम्हारे ही साथ विवाही गयीं और इस समय पूर्वभव में दिये गये दान के माहात्म्य से संसार के नाना सुखों का अनुभव कर रही हैं।

★ ★ ★

इस प्रकार जिनदत्त के पूर्वभवों का समस्त वृत्तान्त जब मुनिराज कह चुके तो जिनदत्त तथा उसकी स्त्रियों को अपने पूर्व भव का समस्त वृत्तान्त याद हो आया और उससे उन्हें मूर्च्छा आ गयी। यह

देख लोगों ने उसका कारण पूछा। उत्तर में जिनदत्त ने जो पहले जन्म का वृत्तान्त याद आया, वह सब कह सुनाया इसके बाद वह मन में सोचने लगा।

''मुनिराज मेरे परम उपकारी हैं। मैं इन्द्रिय विषयों की लालसा में मत्त हो उन्हीं को तृप्त करने में लग रहा था। इन्होंने पहले जन्म का समस्त वृत्तान्त बतलाकर सचेत कर दिया। यद्यपि मैंने उस समय दारिद्र होने के तथा अज्ञानी होने के कारण कुछ विशेष धर्माचरण न किया तो भी मैं इस समय सब तरह से सम्पत्तियों की कृपा का पात्र हूँ। अहा! देखो! मैंने बहुत ही थोड़ा सा दान पहले भव में सत्पात्र के लिये दिया था, वह ही जिस प्रकार छोटा वट का बीज बड़ा हो जाता है और अनेक शाखा प्रशाखाओं में फैलता है, उसी प्रकार नाना सम्पत्तियों के द्वारा फल रहा है। यदि उस ही अत्यल्प दान का इतना माहात्म्य है और संसार की उत्तम सम्पत्तियों का कारण हुआ है तो स्वर्ग-मोक्ष की सम्पत्तियाँ अवश्य ही सुलभ रीति से प्राप्त हो जायेंगी, इसमें सन्देह नहीं है। लेकिन प्रमाद मद मात्सर्य मोह और अज्ञान आदि दुर्भावों के वशीभूत हुए मूढ़ अपने स्वरूप को नहीं विचारते। वे यह नहीं सोचते कि संसार में न तो उतना माता ही हित कर सकती है, न पिता, भाई, बंधु और मित्र ही कर सकते हैं, जितना की निरीह साधु कर सकते हैं। जैनशास्त्र के अनुसार जो कुछ भी दान दिया जाता है, उसी से नि:सन्देह कृतकृत्यता प्राप्त हो जाती है। इस समय मुझे प्राय: सब ही सामग्री प्राप्त है, इसलिए बाहिरी हित को छोड़कर मुझे भीतरी सच्चा हित करना चाहिए। मेरे पुण्य के प्रताप से ही महामोहरूपी तीव्र अग्नि को शान्त करने के लिये मेघ के समान ये मुनिराज मुझे प्राप्त हुए हैं। जब तक आँधी के समान

वेग से दिन पर दिन बीतने के कारण शीघ्र ही समीप आनेवाली वृद्धावस्था मेरी इस शरीररूपी झोंपड़ी को गिराये नहीं देती है, तब ही तक, बल्कि उससे पहले ही मुझे अपना हित कर डालना चाहिए और उसका यह समय युवावस्था होने से बहुत ही उपयुक्त है। इन महामुनि के उपदेश से जो मैंने अपनी पूर्व जन्म की दशा जान ली है, उससे चित्त भी स्थिर हो चुका है। इसलिए इन ही महामुनि के चरण तल में मुझे दीक्षा लेकर तप धारण करना चाहिए।'' इस प्रकार हृदय में दृढ़ रीति से सोच-समझकर जिनदत्त ने मुनिराज से निवेदन किया कि -

हे बिना ही किसी कारण के संसार का हित करनेवाले नाथ! आपके प्रसाद से जो मैंने अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त स्पष्ट जान लिया है, उससे मेरा बड़ा ही हित हुआ है। जो फल देने और मनुष्यों से पूजित कल्पवृक्षों से नहीं प्राप्त हो सकता, जो अभीष्ट पदार्थ देनेवाली गाय नहीं प्रसव कर सकती और जो चिन्ता करनेमात्र से प्रदान करनेवाली चिन्तामणि रत्न नहीं दे सकता, वह ही हितदायी फल आपके चरण कमलों के सेवन करने से प्राप्त होता है। जब तक मनुष्य आपके चरणों का सहारा ले, उनकी आज्ञानुसार नहीं प्रवृत्त होता, तब तक वह नेत्रों से सूझता होकर भी वास्तव में अन्धा है। संसार की समस्त बातों में पण्डित होकर ज्ञानरहित है। संसार में न तो कोई पदार्थ ऐसा पैदा ही हुआ है और न पैदा ही होगा। जो आपके ज्ञान में हाथ की हथेली पर रखे हुए आमले के समान स्पष्ट और प्रत्यक्ष न दीखता हो। नाथ! संसाररूपी गहन वन में मार्ग न सूझने से नाना दु:ख भोगते हुए इन प्राणियों को सीधा और सच्चा मार्ग दिखानेवाले आप ही हैं। आपके ही प्रसाद से लोग दुर्गति के

कठिन दु:खों से रक्षा पाते हैं, इसलिए हे त्रिलोकीनाथ! मुझे भी आप दीक्षा देकर संसार सागर के पार उतार दीजिये।''

जिनदत्त की उपर्युक्त विनती को सुनकर मुनिराज बोले कि 'हे भव्य! तूने जो कहा वह ठीक है, परन्तु कुछ वक्तव्य है, उसे भी सुन! तुम सरीखे सुकुमार लोगों को कठिन-कठिन चर्या से सिद्ध होनेवाला तप प्रशंसनीय ही है, करनेयोग्य नहीं; क्योंकि जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये तप का आचरण करना बालू को कोरों से खाना है, अग्नि की ज्वाला को पीना है, हवा को गाँठ में बाँधना है, समुद्र का हाथों से तिरकर पार करना है, मेरु पर्वत को तौलना है, तलवार की नोंक पर चलना है और आकाश के पार पहुँचना है अर्थात् जिस प्रकार बालू का खाना आदि कार्य कठिन है, उसी प्रकार जिनदीक्षा का धारण कर निर्वाह करना भी कठिन ही नहीं, असम्भव सरीखा है बल्कि यहाँ तक कहना चाहिए कि उपर्युक्त बालू खाना आदि तो किसी प्रकार किये भी जा सकते हैं परन्तु जिनदीक्षा का पालन करना नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें सब तरह से शरीर को असह्य कष्ट भोगने पड़ते हैं। जैनतप धारण करने से भूख-प्यास की बाधा सहनी होगी, जनम भर सब समय सर्वथा वस्त्ररहित नग्न रहना पड़ेगा, मनरूपी मल्ल का उत्कट वेग रोकना होगा और मन से जिसका विचारना कठिन है, वह महाव्रत का भार ढोना होगा। जिस प्रकार चारों तरफ सांकलों से बँधा हुआ मनुष्य अपने हाथ-पैर किसी तरह किसी तरह नहीं हिला डुला सकता, उसी प्रकार समितियों के वशीभूत हुआ जैनमुनि भी स्वच्छन्द मन-वचन-काय की प्रवृत्ति नहीं कर सकता। जिन एक-एक इन्द्रियों ने भी अपनी प्रबलता से संसार के लोगों को वशकर पराधीन बना

दिया है, उन मनसहित पाँचों इन्द्रियों को अपने वश में करना होगा। भद्र! जैन दीक्षा से दीक्षित होकर अनियम से चलना नहीं होता। शास्त्रोक्त षडावश्यक अपने-अपने समय पर करने पड़ते हैं। प्रमाद को तिलांजुलि दे देनी होती है। श्रद्धा से मन सर्वदा शुद्ध रखना होता है। फलों की माला के समान सुकोमल केशों को हाथ की मुष्टियों द्वारा उपाड़ना पड़ता है। उस अवस्था में कपड़े की तो क्या बात? रोम, बल्कल और पत्तों तक का आवरण निषिद्ध है। जिसका कि सहना अत्यन्त क्लेशकारी है। दीक्षा लेने के बाद जन्म भर स्नान करना नहीं होता, जिससे कि धूली आदि मलों से मलिन देह सर्वदा रखनी पड़ती है। दंतधावना भी नहीं करना होता और कंकड़ पत्थरमयी भूमि पर ही एक करवट से सोना पड़ता है।

शास्त्रोक्त विधि के अनुसार पाणिपात्र से भोजन करना होता है और वह भी अन्तराय टालकर एक दिन में कभी-कभी एक बार और कभी-कभी कुछ भी नहीं। इस प्रकार जिन बातों का उल्लेख किया गया है, वे तो मूलगुण हैं, इनके सिवा त्रिकाल योग, सेवा आदि उत्तर गुण बहुत से हैं, जैसे कि भूख-प्यास की बाधा आदि बाईस परीषह सहनी पड़ती है, ध्यान का अभ्यास करना होता है और शास्त्र का पठन-पाठन आदि अनेक नियम साधने होते हैं, जिनको तुम सरीखे सुखपूर्वक अपना बालकपन से अब तक का जीवन बितानेवाले कोमल शरीरी पाल नहीं सकते। तुम्हारे सरीखों के लिये तो श्री वीतराग जिनदेव की पूजा, सम्पूर्ण प्राणियों की अभिलाषा को तृप्त करनेवाला दान आदि शुभकर्म करते हुए गृहस्थ धर्म पालना ही यथेष्ट है, वह ही तप तुम्हारे लिये पर्याप्त है और क्या बताया जाये? क्योंकि गृहस्थ धर्म के धारण करने से भी

परम्परा स्वर्ग मोक्ष के सुख प्राप्त किये जा सकते हैं। इसलिए तुम तत्त्वों के भले प्रकार ज्ञाता होकर दान-पूजा में रत होते हुए श्रावकों के व्रत निरतीचार पालते रहो और उसी से अपना यथाशक्ति हित करो।'

मुनिराज इस प्रकार कहकर जब चुप हो गये तो जिनदत्त ने नम्र होकर कुछ हँसते हुए निवेदन किया-

'हे निरीह हितकारक मुनिराज! आप समस्त तत्त्वों के ज्ञाता हैं, आप संसार के गुरु हैं। आप ही कहिये कि क्या यह आपका उत्तर उचित है? आप सर्व के ज्ञाता हैं, इसलिए आपने जो मुझे समझाया है, वह यद्यपि ठीक है। तप का धारण करना उतना ही कठिन है, परन्तु जिसको संसार सुखदायी समझता है, वह भवस्थिति ज्यों-ज्यों विचारी जाती है, त्यों-त्यों मुझे कष्टदायी प्रतीत होती है। देखिये! जिनेन्द्र भगवान ने जो कुल गति बतलाई है, वे नरक, मनुष्य, तिर्यंच और देव के भेद से चार प्रकार की है। नरक में जो जीव रहते हैं, उनके कष्टों का क्या पूछना है? वहाँ तीखे-तीखे शस्त्र-अस्त्रों से उनके शरीर निर्दयता पूर्वक काटे जाते हैं। एक-दूसरे से सदा झगड़ा ठाना करते हैं और अपना बैर निकालते हैं, वहाँ जिस तरह की दुर्गन्ध पवन बहती है, जैसा शीत पड़ता है और जैसी उष्णता सताती है, उससे सबका दिल दहल सकता है। उस जगह के नारकी सदा भूखे ही रहते हैं, एक दूसरे के शरीर को टुकड़े-टुकड़े कर निगल जाने की इच्छा करते हैं, उनके दाँत, ओठ, कण्ठ, छाती, बगलें, मुँह, तालु और काँखें आदि समस्त अवयव वैतरणी के सारमय दुर्गन्ध घिनावने जल से धोये जाते हैं, जिससे कि वे गल

गलकर गिरने लगते हैं। तलवार की धार के समान पैने वृक्ष के पत्ते उनके शरीर पर पड़ते हैं, कुत्ते, कौए, गीदड़, सियार, साँप आदि हिंसक जहरीले जन्तुओं के आकार परिणत हुए नारकी परस्पर में एक-दूसरे अपने-अपने बैरी को निगल जाने की चेष्टा करते हैं और शक्तिभर दु:ख पहुँचाना चाहते हैं। वहाँ कोई नारकी तो कोल्हू में डालकर पीसे जाते हैं, कोई कुम्भीपाक रस में डुबोये जाते हैं, कोई लोहे के भालों से छेदे जाते हैं और कोई कुट शाल्मली वृक्ष पर चढ़ाये उतारे जाते हैं। इस प्रकार नाना तरह से वहाँ के जीवों को असह्य शारीरिक, मानसिक और वाचनिक दु:ख उठाने पड़ते हैं, परन्तु जब तक उनकी आयु रहती है, तब तक उन्हें बलात्कार सहने ही पड़ते हैं। जिस तरह पारा अलहदा बूंद-बूंद होकर भी फिर मिल जाता है, उसी प्रकार नारकियों का शरीर शस्त्रास्त्र आदि नाना कारणों से छिन्न-भिन्न हो जाता है तो भी फिर मिलकर पूर्ववत ही हो जाता है और जिस प्रकार तीव्र वेदना भोगने पर मनुष्यादिकों का शरीर छूट जाता है, उस प्रकार उनका पिण्ड नहीं छूटता अर्थात् जब तक आयु रहती है, तब तक नहीं मरते। इसलिए वहाँ जीवों को जो दु:ख है, उसका वर्णन नहीं हो सकता।

दूसरी तिर्यंचगति है, वहाँ एक तो परतन्त्रता से जीवन बिताना पड़ता है, दूसरे किसी पदार्थ की चाह होने पर उसके प्राप्त होने की भरसक चेष्टा नहीं हो सकती। हेय उपादेय के ज्ञान को तो वहाँ बहुत ही कम प्रादुर्भाव है, इसलिए रात-दिन जो तिर्यंच नाना दु:ख उठाते हैं, वह कहा जा नहीं सकता।

तीसरी मनुष्य गति है पहले तो उसका मिलना ही इस जीव को

महा कठिन है, यदि नाना कुयोनियों में बहुत समय तक भ्रमण कर इस जीव को किसी प्रकार उसकी प्राप्ति भी हो जाये तो फिर अनार्य खण्डों में जन्म ही प्राय: हो जाता है। जहाँ पर कि जिनेन्द्र भगवान के उपदिष्ट धर्म के सुनने का सौभाग्य होना स्वप्न में भी दुर्लभ है। यदि आर्यखण्ड में भी जन्म हो जाये तो सुजाति सुकुल में जन्म होना कठिन है और यदि वहाँ भी हो जाये तो संपूर्ण शरीर का निरोगपना व संपूर्ण होना कठिन है और यदि वह भी हो जाये तो लड़कपन तो खेलकूद बेवकूफी में ही निकल जाता है, युवावस्था कामरूपी पिशाच के फन्दे में पड़कर समाप्त हो जाती है और बुढ़ापे में समस्त इन्द्रियाँ शिथिल हो जाने से धर्म कर्म कुछ सध नहीं सकता। इसके सिवा अनिष्टसंयोग, इष्टवियोग, दारिद्र रोगीपना आदि अनेक आपत्तियों से पद-पद पर दु:ख ही उठाना पड़ता है। इस तरह मनुष्यों को सर्वदा दु:ख ही बना रहता है।

चौथी देवगति है। वहाँ यद्यपि शारीरिक दु:ख नहीं है तो भी जो मानसिक दु:ख है, वह अवर्णनीय है। स्वर्ग में देव अपने से अधिक सम्पदावाले अन्य देवों को देखकर जला करते हैं। जिस समय उनकी आयु छह महीने की शेष रह जाती है, उस समय उसकी अवधि मालूम हो जाने से जो दु:ख उन्हें भोगना पड़ता है, वह नरक की वेदना से किसी भी अंश में कम नहीं होता, इसलिए देव भी दु:ख भोगने में नारकियों से किसी तरह कम नहीं होते।

इसलिए संसार में न तो कोई अवस्था है और न कोई समय है जहाँ पर कि प्राणियों को दु:खरहित सुख ही सुख हो। इस लोक में कोई न तो ऐसी जगह है, जहाँ यह जीव अनन्तों बार न पैदा हुआ

हो, न कोई ऐसा दु:ख है जो हजारों बार न भोगा गया हो। इसलिए हे जगत्पूज्य! अब मेरे ऊपर कृपाकर प्रसन्न होईये क्योंकि विवेकरूपी माणिक्य दीपक के प्राप्त हो जाने पर प्रमाद करना ठीक नहीं है।

नाथ! आपने जो गृहस्थों के धर्म को ही मेरे लिये उपादेय और पालनीय बतलाया है एवं उसी में अभीष्ट सिद्धि हो जाने का धैर्य जो दिया है, सो यदि सच है तो आपका जो यह तप है, वह व्यर्थ ही समझा जायेगा। इसलिए हे साधुश्रेष्ठ! इस क्षणभंगुर संसार में सारभूत जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट जैनतप की दीक्षा दे मुझे कृतार्थ कीजिए।''

मुनिराज ने सचमुच ही अन्तरंग से विरक्त हुए जिनदत्त से जब ये वाक्य सुने तो कहा - 'हे भव्य! तुम्हारा कहना ठीक है। जैसी तुम्हारी इच्छा है, उसी के अनुसार कार्य करो।'

मुनिराज की आज्ञा पाकर जिनदत्त ने अपने मित्र मतिकुण्डल से यथायोग्य अपने पुत्रों को पद देने को कहा। तदनुसार समस्त पुत्र बुलाये गये और प्रणाम कर पिता जिनदत्त के पास बैठ गये। ज्येष्ठ पुत्र को लक्ष्य कर पिता ने कहा -

''प्रिय पुत्र! तुम्हारी बुद्धि उदार है। तुमको यह मालूम ही है कि पुत्र के समर्थ हो जाने पर पिता अपना समस्त कुटुम्ब के पालन पोषण का भार उस पर रख वन में जाकर तप तपता है। यह पूर्व से चला आया क्रम है, इसलिए तुम सब तरह समर्थ हो गये हो, तुम्हें अपना सब भार सुपुर्द कर मैं तप तपना चाहता हूँ, आशा है तुम इसे स्वीकार करोगे और अपनी गृहस्थी का कामकाज सब तरह ठीक-ठीक चलाओगे। ये जो तुम्हारे छोटे भाई हैं, उन्हें अपने ही समान

मानकर आराम से रखना। समस्त जो नौकर-चाकर और कुटुम्बीजन हैं, उन्हें प्रसन्न रखना, उन्हें अपने से विरक्त न होने देना। संसार के चाहे और काम रह जायें परन्तु धार्मिक कर्मों में कभी भी आलस न करना, उनको नियत समय से शास्त्रानुसार करते ही रहना।''

पिता की यह आज्ञा सुन पुत्र ने निवेदन किया कि ''हे पूज्य! आपने जो कुछ मुझे आज्ञा दी है, वह उचित नहीं है क्योंकि जो संपत्ति आपने भोगी है, वह मुझे माता के समान अग्राह्य है। पिता, पुत्र को अच्छी हितकर सीख देता है, ऐसी किंवदंती है, परन्तु आज वह आपने मोहरूपी अन्धकार से वेष्टित मार्ग मुझे बतलाकर विपरीत कर डाली। आपके अन्य भी बहुत से पुत्र हैं, कृपाकर उनमें से किसी को यह पद दीजिए और मैं आपके समीप रहकर अपना हित सिद्ध करूँगा।''

ज्येष्ठ पुत्र का यह निवेदन सुन अन्य बन्धु-बाँधवों ने उसे बहुत समझाया और तब कहीं पिता का पद उसने लेना स्वीकार किया। इसके बाद उसका अभिषेक किया गया और देश कोष राज्य अलंकार आदि समस्त सम्पत्ति विधि अनुसार प्रदान कर दी गई। इसके सिवा अन्य अपने पुत्रों को भी यथायोग्य पद दिया और बंधु-बांधव, नौकर-चाकरों को भी उनकी इच्छानुसार तृप्त किया।

जिनदत्त ने अपनी स्त्रियों से भी उस समय कुछ कहना उचित समझा और वैराग्ययुक्त चित्तवाले उसने राग-द्वेष की भावना से रहित होकर कहा - ''कांताओं! जब से विवाह हुआ है, तब से लेकर आज तक जो मैंने तुम्हारे साथ राग से, क्रोध से, मान से, मुग्धमन से और अन्य किसी कारण से कड़ा व्यवहार किया हो, उसे

क्षमा करो, मैंने तुम्हारे समस्त अपराध क्षमा कर दिये हैं।''

अपने पति जिनदत्त के उपर्युक्त वचन सुनकर उसकी स्त्रियों ने पैरों में पड़ हाथ जोड़कर कहा – ''नाथ! हम लोगों ने वह सब क्षमा कर दिया है। आप ही हमारा सब अपराध क्षमा कर देने की कृपा करें।''

इस प्रकार अपने समस्त सम्बन्धियों से दीक्षा लेने की अनुमति प्राप्त कर स्थिर चित्तवाले उस जिनदत्त ने अपने अनेक वैराग्य से पवित्र हृदय वाले मित्रों के साथ-साथ साधुपदवी का आश्रय लिया। पति जिनदत्त को दीक्षित देख उसकी स्त्रियाँ भी गृहवास से विरक्त हो गयीं, उनका चित्त विषय वासनाओं से शान्त होकर इन्द्रियों के निग्रह करने में आसक्त हो गया और तदनुसार जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों में अनुरक्त हो आर्यिका हो गयीं।

मुनि जिनदत्त निरतीचार तप तपने लगे। उन्होंने गुरु के समीप अंगपूर्णक प्रकीर्णक शास्त्र अच्छी तरह पढ़े और फिर पृथ्वी पर भ्रमण कर धर्मोपदेशरूपी मेघवर्षा से संसार के तप्त प्राणियों को तृप्त किया।

संसाररूपी समुद्र से पार कर देने में प्रधान कारण तीव्र तप को निरतीचार पालते हुए मुनि जिनदत्त बहुत से मुनियों के संग सम्मेदाचल पर पधारे और वहाँ अपना अंतिम समय समझकर समस्त दोषों को नष्ट करनेवाली सल्लेखना धारण की। उस समय उन्होंने सारभूत चार आराधनाओं का आराधन किया और कठिन तपों से कृश हुए शरीर को छोड़कर सम्यग्दर्शनरूपी रत्न से सुशोभित वह जिनदत्त का जीव बड़े भारी सुख के खजाने रूप आठवें स्वर्ग में देवांगनाओं के मन रूपी माणिक्य को चुरानेवाला देव हुआ।

जिनदत्त के साथी अन्य मुनि भी अपने परिणामों के अनुसार आयु के अन्त होने पर समाधि मरण कर यथास्थान उत्पन्न हुए।

जिनदत्त की स्त्रियों जिन्होंने आर्यिका के व्रत धारण किये थे, वे सारभूत नाना प्रकार के तप का आचरण कर उसी आठवें स्वर्ग में देवियाँ हुई, जहाँ पर कि जिनदत्त का जीव पहले से ही उत्पन्न हो चुका था। वे वहाँ अवधिज्ञान के बल से एक-दूसरे को अपने पहले भव का सम्बन्धी जान बहुत ही आनन्दित हुए और जिन धर्म का वह सब प्रभाव देखकर उसी के आचरण में चित्त लगाने लगे। वे वहाँ अन्य तपों का अभाव होने से केवल जिनपूजा आदि ही भक्ति से पूर्ण हो प्रतिदिन करने लगे।

इस प्रकार श्रीमान् भगवद् गुणभद्राचार्यविरचित संस्कृत जिनदत्त चरित्र के भावानुवाद में यह नववां सर्ग समाप्त हुआ।।९।।

।। समाप्तश्चायं ग्रंथ ।।